आत्मविजय

लेखक

पवित्रात्मा स्वामी भोलानाथ जी महाराज

(अखिल जगत के सेवक)

संस्थापक, ईश्वरीय प्रेम सभा।

प्रकाशक

चाँद बुक-डिपो,

इलाहाबाद

अप्रैल, १९४२

प्रथम बार] [मूल्य २॥)

दो शब्द

'आत्म-विजय' एक ऐसी पुस्तक है जो कि न केवल आत्मिक ज्ञान सिखाती है और ज्ञान के विषय में मनुष्य को सरल मार्ग पर चलने का तरीका बताती है; वरन साथ-ही-साथ दुनियावो रहस्य व ईश्वरीय प्रेम के छोटे-छोटे चुटकुले और सरल व्याख्यानों से, मनुष्य के सूखे हुए हृदयों को, प्रेम के जल से सींच कर एकाएक हरा कर देती है। मनुष्य मात्र केवल भगवान् के जानने के लिए जङ्गलो में धूनियाँ तापते है, वर्षो भर कडी तपस्याओं से राख में राख होकर अपना सर्वस्व नाश कर देते हैं, परन्तु पाते क्या हैं?—केवल वही जान सकते हैं। कई भक्ति-मार्ग पर चलते-चलते लाठियों के सहारों पर आन पहुँचते हैं, परन्तु भक्ति व प्रेम की झलक उनमें दिखाई नहीं देती। इसका क्या कारण है?

यह पुस्तक सासारिक मनुष्यो, स्त्रियों, बच्चो, तपस्वियो व हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सब के लिए अत्यन्त लाभदायक और जिन्दगी में एक बार उस असली तत्व-ज्ञान को सरल रूप में प्रगटाने वाली श्री० स्वामी भोलानाथजी महाराज ने अपने पूज्य कर-कमलों से लिखी है जिसकी इस अस्थिर, चञ्चल व दुखित संसार को इस वक्त अत्यन्त आवश्यकता थी, है और होगी।

इसमे गृहस्थियो, संन्यासियो और बडे-बड़े Philosophers के लिए एवं साधारण स्त्री पुरुषों के लिए बना-बनाया ख़ूब स्वादिष्ट भोजन तैयार मिलेगा, और जिनको भूख नहीं उनको चूरन का काम करेगा!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

—'एक'

भूमिका

इस पुस्तक में एक ऐसे जीवन पर विचार किया गया है कि जो सासारिक तमाम उलझनो में होते हुए भी एक विजयी के समान हो। ऐसा शान्त हो कि जिसको कोई अवस्था अशान्त न कर सके। शान्ति एक ऐसा पदार्थ है कि जिसको आस्तिक, नास्तिक, महात्मा और ससारी पुरुष सब चाहते हैं। यहाँ तक कि संसार का हर परमाणु इसी शान्ति की खोज में है। अगर सब कुछ पा लेने पर यह न मिल सका तो सारे प्रयत्न (Effort) का फल कुछ भी नहीं, और अगर यह मिल चुका है तो फिर कुछ मिले या न मिले, बराबर है। अशान्ति का कारण कुछ हमारी ही बिगडी हुई शक्तियाँ हैं जिनको जीतकर हमें इस शान्ति को हासिल करना है। इस पुस्तक में और इसके अगले चार भागों में उन बातों पर विचार किया गया है कि जिससे उन बातों का निरोध हो सके कि जिस निरोध या रुकावट से शान्ति फिर कभी नष्ट न हो।

मुझे कई दफा ख्याल आता रहा कि मैं अपने जीवन के उन विचारों को पुस्तकाकार दूँ ; जिनको मैं अमूल्य समझता हूँ और जिनके जान लेने पर मनुष्य अपने जीवन की नैया को ससार-सागर के भयङ्कर तूफान से बचा सकता है।

इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने का कारण दैवी शक्ति हुई और उसकी इच्छानुसार इसे पुस्तक का रूप दिया गया। यह आपके

सामने 'आत्म-विजय' का पहला भाग है। इस क़िस्म के चार भाग और आपके सामने रक्खे जायँगे। अगर ईश्वर ने सहायता की और यह बात उनकी इच्छा' के अनुकूल हुई तो फिर यह जल्द ही प्रकाशित होकर आपकी सेवा में पहुँच सकेंगे। निस्सन्देह इस पहले भाग मे उतना मसाला (Matter) नहीं कि जितना हज़ार पृष्ठो में हो सकता है, लेकिन इतनी ख़ुशी ज़रूर है कि एक तो यह उस हज़ार पृष्ठ का हिस्सा है और दूसरे इस दो सौ पृष्ठ ने हज़ार पृष्ठ को आठ सौ बना दिया है।

इसमें कोशिश की गई है कि जीवन के गहरे भेदों को सरल शब्दों में जाहिर किया जावे ताकि हर शख्स को उनके समझने में आसानी हो सके। और दूसरे, इसमें उन लोगों के लिए भी मार्ग अत्यन्त साफ़ है जो इस दुनिया के चक्कर में रहते हुए भगवान् को पाना चाहते हैं। मेरा खयाल है कि जिस तरह ईश्वर-प्रेरणा द्वारा इसको आप सब की सेवा में रखा गया है उसी तरह इसको पढ़ने की इच्छा भी ईश्वर-प्रेरणा का ही अङ्ग हो सकता है। लेकिन मेरी इतनी ईश्वर से प्रार्थना है कि वह अब संसार के दिलों को अपनी तरफ़ खींचे जिससे हम उसको दिल मे जगह देकर उसकी दुनिया मे रहना सीख सके। हम संसार के कार्य को अपना समझ कर न करे, बल्कि उसकी आज्ञा-पालन के लिए। कर्म उसकी आज्ञा हो और फल उसकी इच्छा हो! हमारा काम सिवाय आत्म-समर्पण के और कुछ न हो!!

—'नाथ'

समर्पण

जिन्होंने दुःख को दुःख नहीं समझा और जीवन में कभी सुख की इच्छा नहीं की। जिनको सब अपने से अधिक प्रिय थे। जो दूसरों के दु.खों को अपना दु ख और सुख को अपना सुख समझते थे। जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण संसार के कल्याणार्थ व्यतीत हुआ। जिन्होंने राग में वैराग और वैराग में राग के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत कर दिखाया। जिनके लिए मतमतान्तर के झगड़े व्यर्थ थे। जिनके लिए हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, अंग्रेज सब बराबर थे। जो सार्वभौमिक प्रेम की जीती-जागती मूर्ति थे। जिनकी एक ही कृपा-दृष्टि से लोगों के जीवन आनन्दमय हो जाते थे। जो भक्ति, कर्म, योग और ज्ञान की ज़िन्दा तस्वीर थे। जिनके प्रेम का दरिया सब दिशाओं में बहता था। जो अशान्त दिलों को एक छोटी-सी बात में शान्त कर देते थे।

जिनके चाहने वाले हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, अंग्रेज सब लोग थे। जिनके सामने जाते ही अपना आप भूल जाता था। जो बड़े-बड़े विज्ञानी (Philosophers) और तत्ववेत्ताओं को ब्रह्मविद्या के भेद बताते थे। जिनके पास संन्यासी, महात्मा और हर श्रेणी के लोग अपना-अपना मार्ग समझने आते थे। जिनके दर्शनों से निरक्षर-साक्षर सभी आनन्दित होते थे। जिनकी वाणी मुरदा दिलों को ज़िन्दा कर देती थी। जिनका सिद्धान्त Materialism में Spiritualism को पाना था। जिन्होंने भगवान् के मार्ग को इतना सरल कर दिया कि जिस पर बच्चे, बूढ़े, जवान,

और स्त्रियाँ आसानी से चल सकें। जिनके लिए जीवन-मृत्यु, बन्धन-मोक्ष, प्राप्त और अप्राप्त सब समान हो चुके थे। जिनका सिद्धान्त प्रेम था कि जिसकी बुनियाद एकता थी। जिनको स्वप्न में भी भगवान् से अलहदा अपने अस्तित्व का भान न होता था। जो सत्य, प्रेम और दया के उछलते हुए समुद्र थे। हाँ, जिनमें मोक्ष ग्रहण होने के पश्चात् यह बात ज़रूर रह गई थी (जो कि उनके अपार प्रेम का प्रमाण है) कि "मैं उस समय तक अपने मोक्ष के आनन्द से सन्तुष्ट नहीं हो सकता कि जब तक संसार का कोई भी परमाणु अज्ञान की जंजीरों में जकड़ा हुआ बन्धन के दुःख को अनुभव कर रहा है। मेरे मोक्ष में सब का मोक्ष शामिल है और सब के मोक्ष में मेरा मोक्ष!"

जिन्होंने २० जनवरी सन् १८६७ को संसार के कल्याणार्थ देह धारण की और १३ दिसम्बर सन् १९४० की रात को अपने आप को इस तरह छिपा लिया कि जिस तरह सूर्य अपनी किरणों को समेट कर आँखों से ओझल हो जाता है। ऐसे जो मेरे पूज्य पिता जी और सद्गुरुवर्य्य—

श्री बाबा जी भगवान्

थे उनकी पुण्यस्मृति में, उनके श्री-चरणों में नमस्कार करता हुआ, मैं इस पुस्तक 'आत्म-विजय' को, अपने श्रद्धापूर्ण अश्रुओं की भेंट सहित, सादर समर्पित करता हूँ।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

—"नाथ"

विषय-सूची

पुस्तक के रचयिता

प्रेमावतार श्रीस्वामी भोलानाथ जी महाराज

संस्थापक, ईश्वरीय प्रेम-सभा

ॐ

आत्मविजय

आन्तरिक युद्ध

संसार में दो प्रकार के युद्ध होते हैं। एक तो वह कि जो समय-समय पर होते रहते हैं और खत्म हो जाते हैं, लेकिन एक युद्ध इस प्रकार का है कि जो मुतवातिर और हर समय लगा ही रहता है। पहले प्रकार का युद्ध तो अक्सर समझ में आ जाता है क्योंकि जब एक मुल्क को दूसरे मुल्क से लड़ते देखते हैं तो उसका ज्ञान होता है कि यह युद्ध हो रहा है, अमुक-अमुक देश में लड़ाई हो रही है, वह जीत गया और वह हार गया! मगर अनादिकाल से जो एक युद्ध चला आ रहा है उसका पता

किसी-किसी को लगता है। लेकिन जब कोई बता देता है तो उसका पता भी चल जाता है। लेकिन यह युद्ध कहीं दूर नहीं और दूर भी है। अति समीप से समीप और दूर से दूर भी है, आपके बाहर और आपके अन्दर भी है। यह एक लगातार युद्ध है। जब दुनिया मे कोई बादशाह दूसरे बादशाह को जीत लेता है तो वह उसकी सामग्री और ऐश्वर्य का मालिक बन बैठता है। इसी तरह जिसको इस युद्ध में कामयाबी मिलती है वह फिर उस पदार्थ और ऐश्वर्य को ग्रहण कर लेता है कि जिसका खात्मा कभी न हो। आप पूछ सकते हैं कि अव्वल तो हमें उस युद्ध का पता नहीं और अगर कुछ पता है तो यह मालूम नहीं कि उसमे जीतने से क्या-क्या लाभ हो सकते हैं? तो इसका जवाब यह है कि वह संग्राम—वह लड़ाई—समष्टि और व्यष्टि दोनों रूप मे संसार मे चल रही है और वह है आसुरी और दैवी वृत्तियों की लड़ाई या रजोगुण तमोगुण की सतोगुण से लड़ाई या काम-क्रोध-लोभ-मोह-अंहकार की आत्मा और उसकी फौज यानी सात्विक वृत्तियों से लड़ाई। यह व्यक्तिगत रूप में हर पुरुष और स्त्री के अन्दर भी हो रही है और समष्टि रूप से कुल संसार मे चल रही है। यह संग्राम सृष्टि के कोने-कोने मे चल रहा है। इस पर जिसको विजय प्राप्त हो उस सा बहादुर संसार में कोई नहीं हो सकता, क्योंकि इस विजय के पश्चात् जो सुख और शान्ति मिलती है उसका खात्मा नहीं होता। संसार में भी तो मनुष्य सुख और शान्ति ही के लिए लड़ता है और फिर भी उस

में सुख प्राप्त नहीं होता। क्या अच्छा हो कि इस बड़े युद्ध में लड़ें और जीत कर उस परमानन्द को प्राप्त करें कि जिसकी हद न हो।

जिस समय प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन को आपस में लड़ते देखा और यह समझा कि यह बेचारे आये साल लाखों जानों का ख़ून कर देते हैं और उन तुच्छ पदार्थों के लिए लड़ रहे हैं कि जिनका सुख क्षणिक और परिणामी है तो उन्होंने उन को इस लड़ाई से हटा कर दूसरे संग्राम के लिए तैयार किया और कहा कि "आओ, जो इस युद्ध में जीत जायगा वह कभी किसी चीज़ की कमी का मुँह न देखेगा"। इस बात को सुनकर इन्द्र और विरोचन ने अपना ज़ाहरी युद्ध छोड़कर आत्मिक युद्ध प्रारम्भ किया और इस तरह उनमें से इन्द्र उस तत्व को समझ कर या अपने अहंकार को जीत कर उस धन को ले गये कि जिस का कभी ख़ात्मा ही न हो।

इस युद्ध के लिए हमको कोई चैलेञ्ज नहीं देता, बल्कि यह युद्ध स्वाभाविक छिड़ा हुआ है। लेकिन फ़र्क इतना है कि कोई तो इसको समझता है और कोई नहीं। इसलिए अब हमको सिर्फ़ यही लिखना है कि यह युद्ध क्या है और इसमें मनुष्य विजयी किस तरह बन सकता है। इधर तो बाहर का युद्ध छिड़ा हुआ है और उधर अन्दर का।

वडे मूज़ी को मारा नफ़्से अम्मारा को गर मारा।
निहङ्गों अज़दहाओ शेरे-नर मारा तो क्या मारा॥

न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर बन जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीरगर मारा तो क्या मारा॥

जिसका भावार्थ यह है कि अगर आप संसार में बड़े ज़बरदस्त को मारना चाहते हैं तो वह है आपका अहङ्कार। अगर आपने इसको मार लिया तो फिर आप जैसा बहादुर कोई नहीं। यह भी बहादुरी और वीरता है कि आप शेर, अज़दहा वगैरह को मार लें या पारे वगैरह को भस्म कर ले, लेकिन यह वीरता उससे कहीं कम है कि अगर आप अपने आप को मार सकें, क्योंकि संसार में हर बहादुर दूसरे का मुकाबिला करता है। लेकिन बड़ा बहादुर तो वही हो सकता है कि अपना मुकाबला आप कर सके। एक दफा एक राजा साहब के यहाँ मैं खाना खाने गया, उनके सेक्रेटरी ने बताया कि महाराज देखिए, जो शेर मरा पड़ा है यह इन्हीं का मारा हुआ है। तो मैंने हँस कर कहा कि ठीक है, बड़ी बहादुरी का काम है, लेकिन जब तक यह एक और शेर को न मार लें, यह पूरे बहादुर नहीं कहला सकते और वह है इनका अहङ्कार रूपी शेर। क्योंकि श्रुति में भी साफ लिखा है कि—

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः

यानी यह आत्मा बलहीन पुरुष को नहीं मिल सकती जिसका मतलब यह है कि यह जिसको मिल जावे वह सबसे बहादुर हुआ। क्योंकि अगर बलहीन को नहीं मिल सकती तो जरूर बलवान को मिलेगी। इसलिए सबसे बहादुर वही है कि जिसने उसको पा

लिया। दूसरे से युद्ध करने में दूसरे को चोट लगती है, लेकिन इस संग्राम में तो अपने आप या अपने अहङ्कार से लड़-लड़ कर सब वार अपने ऊपर ही करने हैं। ऐसे वारों को तो कोई बहादुर ही बरदाश्त कर सकता है। अजब युद्ध है कि अपने आप से लड़ाई है।

जहाँ बाहर के बादशाहों को पता लगता है कि उनका कोई शत्रु है तो वह उससे लड़ने को हर प्रकार के युद्ध के सामान तैयार करते हैं और ख़ूब जी मज़बूत करके उससे लड़ते हैं। फिर जिसको यह पता लग जाय कि उसके अन्दर एक मुतवातिर संग्राम जारी है तो फिर सुस्त क्यों बैठा रहे? उसको चाहिए कि वह जल्द-अज़-जल्द और उम्दा-से-उम्दा युद्ध के सामान तैयार करके अपने द्वेषी को जीत कर विजय को प्राप्त हो।

कौन है जो जामए इन्साँ में भी काहिल रहे।
तर्क करके अपने अग़राज़ो मफ़ादे बाकमाल॥

यानी ऐसा मूर्ख संसार में कौन हो सकता है कि जो अपने ही स्वार्थ में आलस्य से काम ले और फिर जब उसको इतना दुर्लभ मनुष्य और पुरुष का शरीर प्राप्त हो।

युद्ध का पहला असूल (सिद्धान्त) यह है कि ख़्वाह कुछ हो मैं अपने शत्रु को जीते बग़ैर न रहूँगा और जीत भी न सका तो मैं कभी अपना कदम पीछे न हटाऊँगा। अर्थात् विजय या मृत्यु दोनों ही मेरे लक्ष्य हैं। मेरा पुरुषार्थ (पुरुष अर्थ) यही है

कि मैं इस संग्राम में मर मिटूँ। इतनी Strong will (दृढ़ इच्छा-शक्ति) को लेकर आगे बढ़े।

वीरता—हर मनुष्य को पता है कि उसे एक-न-एक दिन मरना ही है तो फिर मैं कायर होकर क्यों मरूँ, बहादुर बन कर क्यों न मरूँ।

धीरज—इस्तक़लाल—मैं अगर आज हार रहा हूँ तो कल जरूर जीतूँगा, लेकिन मैं कभी शत्रु से हार नहीं सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि अक्सर मनुष्य पर इस क़िस्म के मौक़े आते हैं कि जब वह इस संग्राम मे पटका जाता है और पीछे फेंका जाता है, लेकिन डर क्या है? जब तक एक भी श्वास बाकी है वह लड़ने से हट नहीं सकता। जब पीछे भाग कर भी सारी उमर गुलामी की काटनी है तो फिर आगे बढ़ कर ही ख़त्म क्यों न हो जाऊँ? जीत गया तो सब कुछ मिलेगा और हार गया तो मर गया यानी मर कर भी जीत गया। इस रूहानी या आत्मिक संग्राम में यह बातें जरूर होनी चाहिए।

एक फ़ौजी की कैफ़ियत या अवस्था

१—वह एहद (प्रण) करता है कि मैं अपने मालिक के हुक्म के विपरीत कभी न चलूँगा और मालिक का नमकहराम कभी न होऊँगा।

२—जब उसको उसका मालिक लड़ने के लिए हुक्म देगा वह हर तरह से उसके लिए तैयार रहेगा।

३—वह हरेक प्रलोभन को इस युद्ध में छोड़ देगा, वह मौत और भयङ्कर दृश्यों को देख कर भी मुँह न फेरेगा।

४—वह युद्ध में कभी अपनी इच्छा से कोई काम न करेगा। उसका धर्म हर समय अपने सेनापति (Commander) के हुक्म को देखना ही होगा। सारांश यह कि एक फौजी का शरीर अपने कमाण्डर की आज्ञा का एक यन्त्र होगा।

उसी तरह रूहानी युद्ध में लड़ने वाले को पहले यह तय करना होगा कि अपने ईश्वर की आज्ञाओं का पालन हर समय करेगा। और वह इस दैवी और आसुरी संग्राम में हर समय सच्चा और नेकनीयत रहेगा। वह कभी अपने मन को किसी प्रलोभन का शिकार न होने देगा। उसका एकमात्र लक्ष्य उस युद्ध में विजय को प्राप्त होना होगा और अपनी इस विजय से वह अपने प्रभु को प्रसन्न करने की कोशिश करेगा।

वहाँ तो फौजियों को जङ्ग होने पर लड़ाई में जाना पड़ता है और यहाँ युद्ध शुरू ही है और ईश्वर (Commander) भी साथ हैं, इसलिए हर एक व्यक्ति को चाहिए, ख्वाह स्त्री हो या पुरुष, बूढ़ा हो या जवान, हिन्दू हो या मुसलमान, सिख हो या ईसाई इस रूहानी युद्ध में डट जाय और अपने मालिक को हर तरह प्रसन्न करे।

ऐ आज़माने जादए ईमाँ बढ़े चलो।
खा-खा के तीरो ख़ंजरो पैकाँ बढ़े चलो॥

अर्थात् इस धर्म-मार्ग पर चलने वालो, आगे-आगे बढ़ते जाओ और इस बात की परवाह ज़रा न करो कि आपके सामने कौन-कौन से दु ख आ रहे हैं।

संसार में हर मनुष्य मरने के लिए बना है, फिर अगर यह सच है तो अच्छी तरह क्यों न मरे ? और अच्छी तरह मरना यह है कि इस दैवी संग्राम मे एक वफादार सिपाही या फौजी की तरह अपनी आसुरी-वृत्तियों से लड़ कर मर जावे; लेकिन हैरानी तो यह है कि जो इस तरह मरता है वह हमेशा के लिए ज़िन्दा हो जाता है।

पाप के पाँच दर्जे और उनसे मुक़ाबला

हाँ ! अब मुझको पाप के पाँच दर्जों पर कुछ लिखना है और उसके बाद इस देवासुर-संग्राम में आसुरी वृत्तियों को परास्त करके एक विजयी के जीवन को दिखाना है।

पाप का पहला दर्जा

इसमे मनुष्य पाप मे लिप्त तो होता है लेकिन उसको उसका ज्ञान नहीं होता। यह उस पुरुष के समान होता है कि जो अँधेरे में तो हो, लेकिन उसके साथ-साथ सोया भी पड़ा हो। इस अवस्था में मनुष्य पाप भी करता है और प्रसन्न भी होता है। लोग इससे यह सिद्धान्त निकालते हैं कि पाप में अगर सुख न होता तो इस मनुष्य को सुख क्यों मिलता है, यह हर तरह प्रसन्न भी है और पाप भी कर रहा है; लेकिन वे यह नहीं जानते कि उसका

यह सुख बड़े दु.खों को लाने वाला है। बच्चा जब अग्नि को सुन्दर समझ कर उसकी तरफ दौड़ता है तो वह यह नहीं समझता कि उसका हाथ उससे जल उठेगा। उसको यह ख़ुशी उस समय तक रहती है कि जब तक वह उसको छू नहीं लेता और जब छूता है तो उसका परिणाम भयङ्कर रूप में सामने आता है और उसको कहना पड़ता है कि यह अज्ञान से मेरे सुख की प्रतीति हो रही है, वास्तव में इसमें सुख है कहाँ? ख़ैर, इसमें मनुष्य पाप भी करता है और प्रसन्न भी रहता है।

पाप का दूसरा दर्जा

मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि वह पाप कर रहा है; लेकिन उसको छोड़ नहीं सकता। इस अवस्था में मनुष्य को हद से ज़्यादा कष्ट होता है, क्योंकि वह अपने पापों को समझता हुआ भी उनका त्याग नहीं कर सकता। ये पुरुष उस किस्म के हैं कि जिनकी आँखें तो अन्धकार में खुल चुकी हैं लेकिन वह उस अन्धकार को न तो दूर ही कर सकते हैं और न उससे बाहर ही निकल सकते हैं और उसी में खड़े-खड़े भयभीत हो रहे हैं। इनको बेहद कष्ट होता है, लेकिन यह पहली अवस्था वालों से ऊँचे हैं, क्योंकि उनका सुख तो नतीजे में दु:ख लाने वाला है और इनका दु.ख अपने पापों का अनुभव कराके इनके सामने बड़े सुख को लाने वाला है। भेद यह है कि पहले में पहले क्षणिक सुख है और नतीजे में घोर दुःख है, और दूसरे में पहले दु.ख है और

नतीजे में अनन्त सुख है। लेकिन यह लोग भी सुख से बिलकुल ख़ाली नहीं, क्योंकि जब इनको यह मालूम होता है कि एक शख़्स इनके सामने गुनाह कर रहा है और वह उससे वाक़िफ़ नहीं तो इनको अपनी अवस्था उससे बड़ी मालूम होने लगती है; क्योंकि यह समझ लेते हैं कि इनके पास इस क़दर रोशनी तो आ चुकी है कि जिससे यह अपने अन्धकार को देख रहे हैं। इनको अपनी इस रोशनी पर बड़ा गौरव होता है, अगर्चे यह पाप की ज़ञ्जीरों मे अनिच्छावश या आदत के मुताबिक़ जकड़े हुए हैं, लेकिन फिर भी .खुश होते हैं कि हमको अपने शत्रु का पता तो लग गया।

एक दिन एक आदमी मेरे पास आकर कहने लगा कि महा-राज, मैं बड़ा गुनहगार पापात्मा हूँ, तो मैंने कहा कि नहीं, तुम मुझको भले मालूम होते हो। उसने पूछा वह कैसे ? तो मैंने कहा कि एक अपवित्र में अगर दूसरी अपवित्रता आ मिले तो उसको अपने अपवित्र होने का ज्ञान ही नहीं हो सकता; क्योंकि वह पहले पवित्र हो तो उसको बाद में अपनी अपवित्रता का भान हो। लेकिन अगर एक पवित्र वस्तु में दूसरी अपवित्रता ज़बरदस्ती आ मिले और वह उसको छोड़ न सके या अपना आप छुड़ा न सके तो इसका मतलब यह हुआ कि पहली पवित्रता को यह अनुभव होता है कि मैं अपवित्र हुई जाती हूँ। यह अनुभव उसकी पवित्रता का प्रमाण है वरना उसको अपने अपवित्र हो सकने का कभी भान न होता। इसी तरह जो मनुष्य यह समझने लग गये

हैं कि वह ग़लतियाँ कर रहे हैं और पापों में जकड़े पड़े हैं वह दरअसल अन्दर से पवित्र हो रहे हैं, इसीलिए तो अपनी बाहर की अपवित्रता से घृणा कर रहे हैं। मैंने कहा कि इसमें सन्देह नहीं कि आप ज़रूर ग़लतियाँ कर रहे होंगे जिनको रफ़ा करने का ख़्याल हर वक़्त आप के मन में रहना चाहिए, लेकिन इस बात की मुझे ख़ुशी है कि आप उन लोगों में से नहीं कि जो ग़लतियाँ भी कर रहे हैं और उनको ग़लतियाँ समझते भी नहीं। ये दुगुने अन्धकार मे हैं। एक तो हैं ही अँधेरे मे दूसरे समझ यह रहे हैं कि यह अँधेरा ही नहीं है। इस अनुभव से दुःख तो ज़रूर होता है, लेकिन यह दुःख मुबारक है, सन्तोपजनक है और प्रिय है क्योंकि इससे आगे चल कर अनन्त सुख प्राप्त होगा। इस अवस्था में मनुष्य का अपने पापों और कमियों से युद्ध का प्रारम्भ होता है। पहली अवस्था मे शत्रु तो होते हैं लेकिन वह जानते हैं कि हमारा भोला शिकार तो हमें अपना मित्र समझे बैठा है, इसलिए वहाँ युद्ध के सामान तो होते हैं लेकिन युद्ध का प्रारम्भ नहीं होता। दूसरी अवस्था मे शत्रु अपनी सेना के साथ निहायत जोरदार होता है और उससे मुकाबला करने वाला बिलकुल उनके बन्धन मे जकड़ा होता है, लेकिन एक नया अख यह पैदा हो जाता है कि मनुष्य को अपने शत्रुओं का ज्ञान हो जाता है और उनसे मुकाबला करने की इच्छा पैदा हो जाती है। यह कहता है—"इसमें सन्देह नहीं कि तुमने मुझे जकड़ रखा है, लेकिन मैंने अभी आत्म-समर्पण (Surrender) नहीं किया और न ही जब तक

मेरे में जान है यह मुझसे हो सकेगा। इसमें सन्देह नहीं कि तुम बलवान हो, लेकिन मेरे अन्दर की Strong will (दृढ़ इच्छा) मुझे यह बता रही है कि एक-न-एक दिन तुमको मेरे मातेहत होना है और तुम मुझसे हारोगे, अगर तुम्हें मुझ से हारना न होता तो मेरे दिल में इस कदर ज़बरदस्त भाव तुमको परास्त करने का पैदा ही न हो सकता। तुम बड़े हो, लेकिन तुमसे बड़ी मेरे दिल की यह धारणा है, यह इस्तक़लाल और जोरदार जज्बा है।" यहाँ घमासान लड़ाई शुरू हो जाती है, इस अवस्था में मनुष्य तो बूँद के समान होता है, लेकिन उसकी धारणा समुद्र के बराबर होती है। मगर इस हालत में मनुष्य हर वक्त शिकस्त ही खाता रहता है और परास्त होता रहता है और यह वेहद दु:खी रहता है। लेकिन इसको .खुशी इस बात की जरूर रहती है कि उसके अन्दर की आवाज़ अभी तक मरी नहीं और वह अपने शत्रुओं से अभी तक उसी तरह लड़ने को तैयार है कि जिस तरह वह आज तक लड़ता रहा है, और लड़ाई के लिए तैयार हो जाता है। पस इस अवस्था मे नाख़ुशी और दु:ख-ही-दु:ख होता है, लेकिन .खुशी भी होती है और वह यह कि वह अपने शत्रुओं से हर समय लड़ने को तैयार बैठा है। इसकी हिम्मत, इसका हौसला, हर समय इसको बढ़ाये ही जाता है। कभी-कभी तो पापों का सीना इसको देखकर दहल जाता है, काँप उठता है कि "आख़िर यह है कौन, कि जो इस कदर पछाड़े जाने पर भी हिम्मत नहीं हारता और हर समय हमारे मुक़ाबले के लिए तैयार रहता है,

हम इसको गिरा तो ज़रूर रहे हैं, लेकिन यह गिरे तो तब कि जब इसकी यह इच्छा ही हमसे लड़ने की जाती रहे। यह हर मार खाने पर और तेज़ होकर हमसे लड़ने को आता है।" इसमें पापों का दिल ज़रूर दहल जाता है और यह भी एक कामयाबी की किरण इस मार्ग पर चलने वाले के लिए हो जाती है।

लोग कहते हैं कि देखिए भला, पाप करने वाला और पापों को न समझने वाला तो हर वक्त ख़ुश नज़र आता है और यह अजीब बात है कि जो अपने गुनाहों को समझ रहा है और उनसे लड़ रहा है और हार रहा है, वह हर वक्त दुःखी-ही-दुःखी है क्या अपने गुनाहों को समझने का यह फल है? तो हम बाज़ आये ऐसे समझने से। लेकिन इनको यह जान लेना चाहिए कि पहले से दूसरा अच्छा है क्योंकि पहले का फल ख़राब है और दूसरे का फल अच्छा है।

पाप का तीसरा दर्जा

इस अवस्था में मनुष्य अपने आन्तरिक बल की वजह से पापों के साथ मुँहज़ोर मुकाबला शुरू कर देता है और अक्सर कामयाब भी होने लगता है। गोया पहली अवस्था में तो इसको पाप का ज्ञान तक भी न था और दूसरी में यह हर वक्त दबा रहता था, लेकिन तीसरी अवस्था में यह अक्सर उस पाप को भी दबाने लगता है अर्थात् उसका आन्तरिक बल ज़ोर पकड़कर अक्सर पाप-वृत्तियों को कुचल डालता है। इस अवस्था में मनुष्य की हालत

ऐसी होती है कि जिसको अपने अन्धकार का ज्ञान भी है और उसके साथ-साथ उसको कभी न कभी दियासलाई का प्रकाश भी उस अन्धकार में मिल जाता है यानी उस वक्त वह उस अन्धकार से बच सकता है, लेकिन दियासलाई का प्रकाश ज्यादा देर नहीं रह सकता और फिर अन्धकार आ जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस अवस्था में अन्धकार का आधिपत्य हकूमत तो है, लेकिन उसके साथ-साथ प्रकाश ने भी अपना कब्जा जमाना शुरू कर दिया है। इस अवस्था में मनुष्य के सुख और दु.ख दोनों बहुत बड़े हो जाते है। जब मनुष्य अपनी आसुरी वृत्तियों पर कब्जा करता है तो उसका सुख संसार के बड़े-बड़े सुखों से अधिक हो जाता है और जब यह किसी आसुरी वृत्ति के मातेहत हो जाता है तो इसके दु ख की हद नहीं रहती क्योंकि यह समझता है कि आज भी मैं अपने दुश्मनों को जीत न सका। लेकिन यह दु ख पहली अवस्था के सुख से कहीं ज़्यादा सुन्दर है क्योंकि इसमें दु.ख इसलिए है कि वह अपने शत्रुओं को जीत नहीं सका। इसमे कभी तो आसुरी-वृत्तियाँ (पाप) उसको गिरा लेते हैं और कभी यह उनको गिराता है। एक लगातार लड़ाई चलती है लेकिन पापों का हृदय कॉप उठता है "यह क्या ! पहले तो इसको हमारा ज्ञान भी न था इसलिए यह मुक़ाबला ही क्यों करता ? और दूसरी अवस्था मे यह हमसे हरवक्त दबा रहता था लेकिन अब न मालूम यह क्या हुआ कि जो इस तरह यह हमको भी अक्सर दबा लेता है। हमारी शक्ति तो दिन-ब-दिन कमज़ोर

होती जाती है लेकिन इसका बल बढ़ता जाता है, ऐसा न हो कि एक दिन यह हमको बिलकुल ही ख़त्म कर डाले; क्या कोई समय ऐसा भी आयेगा कि जब हम न होंगे ? उधर इसका हौसला और बढ़ जाता है कि आख़िर मेरी ताकत दिन-बदिन बढ़ रही है लेकिन इसकी यह अवस्था ग़म से ख़ाली नहीं होती और इसको भय बना ही रहता है कि कहीं फिर मुझ पर पहली और दूसरी हालतें न आ जावें और यह भय इसको हमेशा मदद देता रहता है और इसको सुस्त नहीं बनने देता और मुकाबले के लिए हर वक़्त तैयार रखता है।

पाप का चौथा दर्जा

इस अवस्था में मनुष्य हमेशा पाप को दबाता है यानी जब भी पाप सामने आया इसने उसको गिराकर फेंक दिया। इस हालत में मनुष्य की ख़ुशी और ग़म या भय दोनों अनन्त हो जाते हैं; वह इस तरह कि जब यह किसी भी मुकाबले में नहीं हारता तो यह अपने को एक कामयाब (Successful) मनुष्य समझता है और समझता है कि मैं विजयी हूँ और विजयी भी इस प्रकार का कि जिसने अपने से मुक़ाबला कर के अपने आप को जीत लिया है और उस आनन्द को हासिल किया है कि जिसका मिलना दुर्लभ है। लेकिन इसके साथ इसका भय अनन्त इसलिए होता है कि वह डरता है कि कहीं इस हालत से गिर न जाय, अगर गिर गया तो क्या होगा ? आप जानते हैं

है जिसमे दीपक लगातार जलने की वजह से अन्धकार नज़र तो आता नहीं या उस प्रकाश से दबा पड़ा है, लेकिन रात तो है; भय है कि अगर दीपक बुझ गया तो फिर अन्धकार ज़रूर सामने आयेगा। लेकिन पॉचवीं अवस्था में दुःख और भय का नाम तक भी नहीं; क्योंकि दुश्मन रहा ही नहीं। अब ज़रा सूक्ष्म बात एक और है कि पहली अवस्था मे भी मनुष्य बिलकुल ख़ुश था जबकि उसको अपने पापों का ज्ञान न था और इस पॉचवीं अवस्था मे भी बिलकुल ख़ुश है क्योंकि पाप हमेशा के लिए ख़त्म हो चुके हैं तो कोई पूछ सकता है कि पहली और पॉचवीं अवस्था में फ़र्क़ ही क्या हुआ ? सुख दोनों में है और दुःख दोनों में नहीं, फिर इतनी मेहनत से फ़ायदा क्या हुआ ? आख़िर इतनी मेहनत के बाद पहुँचे तो उसी अवस्था पर कि जहॉ से चले थे ! क्या यह कोल्हू के बैल का चक्कर नहीं कि चल-चल कर फिर वहीं आया जावे ? लेकिन इसमे सूक्ष्म रहस्य मौजूद है और वह यह कि पहली अवस्था मे सुख अज्ञान की वजह से है और वह उस वक़्त तक है कि जब तक पापों ने अपना नतीजा पैदा नहीं किया और या जब तक पापों का ज्ञान नहीं हुआ। लेकिन पॉचवीं अवस्था में पापों का अत्यन्त अभाव हो चुका है जिसके बाद न तो पाप ही हैं और न उनका कोई नतीजा ही रहता है और न ही उनके होने के ज्ञान से फिर कभी कष्ट होता है। चक्कर (Circle) जहॉ से शुरू होता है वहीं समाप्त भी होता है। जब आप दायरा (Circle) बनाते हैं तो Circumference का पहला point (नुकता) जहॉ से चलता

है वहीं दूसरा कुल चक्कर लगाकर पहुँचता है। लेकिन भेद इतना है कि पहले नुकते को हरकत-क्रिया का ज्ञान तक नहीं और दूसरा विन्दु या नुक़ता कुल चक्कर लगाकर वहाँ पहुँचता है। अन्धकार में कुछ नज़र नहीं आता और न ही अत्यन्त प्रकाश में, लेकिन भेद इतना है कि अन्धकार में प्रकाश का अभाव है और अत्यन्त प्रकाश में कुछ नज़र न आने की वजह उसमें कई प्रकाशों का मिला होना होता है जिनमें नज़र क़ायम करने के बाद सब कुछ नजर आ सकता है। अत्यन्त अज्ञान में दु ख का अभाव है और अत्यन्त ज्ञान में भी; लेकिन भेद इतना है कि एक अज्ञान के दूर होने पर दुःख लाता है और दूसरा कुल अज्ञान के ख़ात्मे पर दु ख का नाश करता है। इसलिए पाँचवीं अवस्था अत्युत्तम है, इसमें मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है या जिस तरह मनुष्य को अपने से आप भय नहीं होता उसी तरह इसके बाद फिर कोई क्रिया ही नहीं रहती। यह है पाप का पाँचवाँ दर्जा कि जहाँ पाप हमेशा के लिए ख़त्म हो चुका है।

इसके बाद अब हम को पाप की फौज को समझना है और फिर यह देखना है कि हम लोग इन पाँच अवस्थाओं में से किस दर्जे पर हैं और इसके बाद उन दैवी शस्त्रों से पाप की सेना को परास्त करके एक विजयी का जीवन व्यतीत करना है। मेरा ख़्याल है कि जो मनुष्य इस युद्ध में जीत सकेगा उसका आनन्द एक अनन्त समुद्र की तरह चारों तरफ ढलक-ढलक करता फिरेगा।

अधिकार की अवस्था

इस रूहानी फौज मे मनुष्य का चुनाव किस समय होता है ? सब महात्मा कहते हैं कि प्रातःकाल का समय ईश्वर-स्मरण के लिए बहुत लाभदायक होता है। इसमें एक गहरी बात सोचने वाली यह है कि ईश्वर-स्मरण और उसके ध्यान का समय या उसकी कृपा का वक्त प्रातःकाल क्यों कहा गया है ? इसका एक अर्थ तो यह भी है कि इस समय मनुष्य की वृत्तियाँ ज्यादा चञ्चल नहीं होतीं और इस समय का प्रभाव भी मनुष्य पर बहुत अच्छा पड़ता है। इसमे सन्देह नहीं कि बाह्य-पदार्थों का आत्मोन्नति से कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो अन्दर से होती है, लेकिन इतना जरूर है कि प्रकृति का सात्विक अंश मन पर सात्विक प्रभाव डाले बगैर नहीं रहता और यह जरूर सहायक साबित होता है, इसीलिए अक्सर महात्मा लोग ईश्वर-स्मरण के लिए अनुकूल और सात्विक वातावरण ढूँढ़ा करते हैं। जब

तक पौदा कमजोर होता है उसके लिए इर्द-गिर्द हिफाज़त के सामानों की जरूरत होती है, कहीं कॉटे लगाये जाते हैं, कही जानवरो से उसको वचाया जाता है; लेकिन जव वह पौदा बढ़कर वृत्त की शक्ल अख़्त्यार कर लेता है तो फिर उसको उन बातों के होने और न होने से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। भावार्थ यह है कि जब तक मनुष्य अपनी preliminary stage अर्थात् अपने पहले दर्जों मे चलता है वहाँ तक उसको सात्विक सामग्री की बड़ी ज़रूरत रहती है। लेकिन जब यह परिपक्व अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो फिर इसके लिए अनुकूल और प्रतिकूल का भाव हीं उड़ जाता है; गोया यह खुद हिमालय के समान अडोल हो जाता है, इसको आँधी की लहरें हिला नहीं सकतीं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपनी पहली हालतों में ईश्वर के ध्यान और स्मरण के लिए अच्छे से अच्छा वातावरण ढूँढ़ निकाले जिससे कि उसका मन प्रभु मे अच्छे से अच्छा लग सके। लेकिन जब मन इतना मजबूत हो जायगा कि किसी भी हालत में न गिर सके तो फिर उसको भय किसी बात का नहीं रह सकता। लेकिन इसके साथ-साथ प्रातःकाल का भावार्थ एक और भी है और वह यह कि प्रकाश के चार विभाग हैं—(१) रोशनी-अन्धकार, (२) अन्धकार और रोशनी, (३) ऐन रोशनी और (४) ऐन अन्धकार। बिल्कुल प्रकाश का समय वह होता है कि जिसमें अन्धकार नाम को भी न हो। और बिलकुल अन्धकार वह होता है कि जिसमें प्रकाश का नाम तक भी न हो। और अन्धकार और रोशनी का

वह समय होता है कि जिस अँधेरे की समाप्ति के बाद फिर प्रकाश आता है और रोशनी और अन्धकार का वह समय होता है कि जब रोशनी की समाप्ति पर अन्धकार सामने आता है। पहली का नाम दिन है, दूसरी का नाम रात है, तीसरी का नाम प्रातःकाल है और चौथी का नाम सायंकाल है।

१—जहाँ केवल प्रकाश है उसको दिन कहते हैं।

२—जहाँ केवल अँधेरा है उसको रात कहा जाता है।

३—जहाँ अन्धकार और प्रकाश है उसको प्रात काल कहते हैं।

४—जहाँ रोशनी और अँधेरा है उसको सायंकाल बोलते हैं।

पहली अवस्था पूर्ण ज्ञान की है।

दूसरी पूर्ण अज्ञान की।

तीसरी अज्ञान और ज्ञान की।

चौथी ज्ञान और अज्ञान की।

पहली अवस्था मे—पूर्ण ज्ञान में तो जिज्ञासा बन ही नहीं सकती क्योंकि पूर्ण ज्ञान तो उसका नाम है जिसमें कुल भ्रम खत्म हो चुका है या जिसने अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य प्रभु को समझ लिया है। इसलिए इस अवस्था में जिज्ञासा नहीं, और जहाँ जिज्ञासा नहीं वहाँ ध्यान-धारणा की जरूरत ही नहीं, लेकिन इसमें जिज्ञासा का अभाव इसलिए है कि इसने असली तत्त्व को पा लिया है। यह वह प्रकाश की अवस्था है कि जिसमें भ्रम ठहर नहीं सकता, अज्ञान रह नहीं सकता। जिस तरह कि पूर्ण प्रकाश में रज्जु में सर्प की प्रतीति नहीं हो सकती

क्योंकि उस प्रकाश में तो रज्जु का ज्ञान हो रहा है और जहाँ रज्जु का ज्ञान है वहाँ सर्प रह ही कैसे सकता है। एक ही समय में तत्त्व का ज्ञान और भ्रम की प्रतीति नहीं हो सकती अर्थात् जब प्रभु को जान लिया तो फिर अभी तक उसको नहीं जाना या वह क्या है और कहाँ है और किस तरह जाना जा सकता है इन बातों की प्रतीति हो ही कैसे सकती है। इस अवस्था में जिज्ञासा नहीं बन सकती।

दूसरी अवस्था केवल अज्ञान की है। इसमें भी भ्रम और जिज्ञासा नहीं ठहर सकते; क्योंकि जब तक किसी को जाना नहीं उसको जानने की जिज्ञासा पैदा ही कैसे हो सकती है ? जिस फल को कभी देखा, सुना और चखा तक नहीं उसको खाने, देखने और सुनने की इच्छा ही कैसे हो सकती है ? यह वह अवस्था है कि जिसमें अन्धकार की अधिकता के कारण रज्जु ही नज़र नहीं आती तो फिर उसमें सर्प का भान कैसे हो सकता है। यह वह अवस्था है कि जहाँ प्रभु के अस्तित्व से यहाँ तक भूल है कि उसमें उसके पाने की इच्छा का प्रश्न ही नहीं बन सकता; क्योंकि जहाँ रस्सी ही नहीं वहाँ साँप आ ही कैसे सकता है या जहाँ तत्त्व से ही बेख़बरी है वहाँ उसके जानने की इच्छा क्योंकर पैदा हो सकती है। इसलिए यह समय केवल अन्धकार या केवल अज्ञान का भी प्रभु-स्मरण के लिए ठीक नहीं।

रही तीसरी अवस्था जिसको हम पहले चौथी अवस्था लिखते रहे हैं वह है, प्रकाश और अन्धकार की अर्थात् जहाँ

ज्ञान, अज्ञान से ढका जा रहा है। यह वह अवस्था है कि जब मनुष्य का हृदय सांसारिक बाह्य प्रभाव से यहाँ तक दबता जाता है कि उसको बजाय भगवान के सांसारिक पदार्थों में सत् का ज्यादा भान होता है और यह eat drink and be merry यानी 'खाओ पीओ और ख़ुश रहो' के भावों को ज़्यादा महत्त्व देने लगता है। यह वह अवस्था है कि जहाँ मनुष्य का ज्ञान अज्ञान से ढकता जाता है; जिस तरह कि सायंकाल को प्रकाश के बाद अन्धकार चलता है यानी जिस तरह सायं में प्रकाश खत्म होकर रात्रि को लाता है उसी तरह इस अवस्था मे ज्ञान पर अज्ञान का आवरण आता जाता है। इसलिए यह अवस्था भी प्रभु-जिज्ञासा के लिए ठीक नहीं। इस अवस्था मे तो रज्जु का ज्ञान सर्प के ज्ञान के अधीन क्षणिक रूप मे होकर अन्धकार में मिलकर रज्जु ही को खो बैठता है या उसमें क्षणिक जिज्ञासा चमक कर फिर अज्ञान के पञ्जे में पकड़ी जाती है और यह फिर भगवान को भूल कर अपने संसार ही को सत् मानने लगता है।

अब रही चौथी अवस्था, जिसको हम पहले तीसरी अवस्था लिखते आये हैं—वह है अन्धकार और प्रकाश की यानी अज्ञान के बाद ज्ञान की। केवल यह ही अवस्था है कि जिसमें जिज्ञासा का शब्द कायम रह सकता है। यह वह अवस्था है जिसमे मनुष्य को कुछ तो अज्ञान होता है और कुछ ज्ञान; या यह वह अवस्था प्रात.काल की होती है कि जिसमें अन्धकार और प्रकाश दोनों मिले होते हैं। लेकिन सायंकाल के प्रकाश और

अन्धकार और इस अन्धकार और प्रकाश मे यह अन्तर है कि सायंकाल के प्रकाश के बाद अन्धकार आता है और प्रात.काल के अन्धकार के बाद प्रकाश आता है क्योंकि दिन के बाद रात पड़ती है और रात के बाद दिन आता है। सायंकाल वाली अवस्था वह है जिसमे ज्ञान को अज्ञान ढॉपता है, और प्रात.काल की अवस्था वह है जिसमे अज्ञान को ज्ञान या अज्ञान रूपी अन्धकार को ज्ञान रूपी प्रकाश खा लेता है। यही अवस्था एक जिज्ञासु के लिए ठीक होती है क्योंकि पहली अवस्था मे तो ज्ञान ही ज्ञान है, वहॉ किसी को जानने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, क्योंकि जब जान ही लिया तो फिर जाने किस को ? और दूसरी अवस्था वह है कि जिसमें केवल अज्ञान है, वहॉ भी जिज्ञासा कैसी ? जिसने किसी चीज़ को समझा ही नहीं वह उसको जानने की इच्छा ही क्यों करेगा ? पहली अवस्था वाले वह हैं कि जिन्होंने भगवान को पा लिया है; दूसरे वह हैं कि जिनको भगवान का पता ही नहीं और तीसरी अवस्था वाले वह हैं कि जिनको कहीं सत्सङ्ग या ईश्वरी कृपा द्वारा क्षणिक ईश्वर के अस्तित्त्व का ज्ञान हुआ और थोड़ी-सी जिज्ञासा उनमें पैदा हुई और सांसारिक मोह ने आन दबाया। कुछ युक्तियॉ arguments इस प्रकार की मिल गईं कि जिससे प्रभु के अस्तित्त्व का ज्ञान फिर अज्ञान और तर्कवाद में छिप गया; पस इसमें भी जिज्ञासा नहीं रह सकती। रही अब चौथी अवस्था, जिसमे अंधकार के बाद प्रकाश आता है, यानी अज्ञान के बाद ज्ञान आ रहा है। तीसरी

अवस्था में तो जिज्ञासा का अभाव अज्ञान की अधिकता से हो गया इसलिए जिज्ञासा का प्रश्न ही उड़ गया; लेकिन चौथी अवस्था अंधकार के बाद प्रकाश की है यानी जिसमे ईश्वर के अस्तित्त्व के सम्बन्ध में अज्ञान का अभाव हो रहा है और प्रभु का ज्ञान सामने आ रहा है। इसमे जो अज्ञान और ज्ञान मिला है वही जिज्ञासावाद की पुष्टि करता है, क्योंकि इसमे इतना तो ज्ञान है कि 'वह है और जानने लायक तत्त्व है ।' लेकिन अज्ञान यह है कि अभी तक उसको पूर्ण रूप में जाना नहीं है। यह वह अवस्था है कि जहाँ रज्जु में सर्प की प्रतीति तो हो रही है लेकिन इस प्रतीति के नाश का समय अत्यन्त समीप आ चुका है। सायंकाल के प्रकाश और अन्धकार के मिश्रण में जो रज्जु में सर्प की प्रतीति होती थी उसमे तो अज्ञान बढ़ने वाला है—उसमें उस प्रतीति का अभाव असम्भव है। लेकिन यही एक समय है कि जिसमें कुछ तो प्रकाश है, जिसके कारण रज्जु का कुछ अंशों मे ज्ञान हो रहा है लेकिन अन्धकार के कारण यह प्रतीति नहीं होती कि यह वास्तविक रूप में तो रज्जु है सर्प नहीं। यह ज्ञान-अज्ञान की अवस्था अति सुन्दर है। इसलिए ही प्रातःकाल का समय symbolic रूप मे भी जिज्ञासा का बताया है और यह नियम है कि जहाँ जिज्ञासा सच्ची होती है वहाँ सच्ची प्रतीति फ़ौरन हो जाती है।

जिस वक़्त मनुष्य के हृदय की अवस्था यह होती है कि वह इस ज्ञान-अज्ञान के प्रातःकाल में जागता है यानी जब उसका हृदय प्रभु-दर्शन के लिए व्याकुल हो उठता है तो उस समय उसका

चुनाव इस आत्मिक सेना यानी रूहानी फौज के वीरों और बहादुरों में हो जाता है और वह इस संग्राम और आत्मिक युद्ध में लड़ने के लिए एक योद्धा के समान चुना जाता है। इसलिए हर एक को यह भी देखना जरूरी है कि वह इन प्रकाश के चार विभागों में से किस विभाग में है। अगर कोई केवल अन्धकार में है तो डरे नहीं, क्योंकि उसके बाद फिर प्रातःकाल आयेगा और फिर दिन चढ़ेगा। निराश किसी को न होना चाहिए। लेकिन जो मनुष्य सायं और केवल अन्धकार की अवस्था में हैं उनका चुनाव फौरी इस तरह हो सकता है कि वह किसी भी तरह इतना जान लें कि उनकी यह अवस्था केवल अज्ञान या उस ज्ञान-अज्ञान की है कि जिसके बाद अन्धकार बढ़ता है। इतना जान लेना ही उनको झट प्रात.काल की रोशनी और अन्धकार में खींच लायेगा और उनका चुनाव भी इस आत्मिक संग्राम मे योद्धाओं में लिखा जा सकेगा।

शरायत (Conditions)

जो इस रूहानी संग्राम मे चुने जाते हैं उनसे यह शर्तें होर्ती हैं:—

कसे कि जानो जहाँ दाद इश्क़े ऊ बख़रीद।
वक़ूफ़ याफ्त ज़ सूदो ज़ियाने मकतबे मा॥

अर्थात्—जिसने उसके मार्ग पर अपने प्राण और अपना सर्वस्व निछावर कर दिया उसने उसके प्रेम को ख़रीदा और वही

इस प्रेम रूपी पाठशाला के, जिसमें कि अपने अहङ्कार से युद्ध करना सिखाया जाता है, नफ़ा और नुकसान को समझ सकता है।

इस युद्ध में पहली शर्त यह है कि अपने प्राणों और अपने कुल सम्बन्धों से मानसिक तौर पर सम्बन्ध तोड़ना पड़ता है। ज़ाहरी तौर पर भी एक फौजी उस समय तक सच्चा और वफ़ादार फौजी नहीं कहला सकता कि जब तक वह अपने प्राणों और अपने कुल सम्बन्धो से रिश्ता न तोड़ ले। उसको अपने मालिक की आज्ञा-पालन मे किसी भी समय अपना सर्वस्व नाश करना पड़ता है या अपने प्राणों को उस पर निछावर करना पड़ता है। जब एक ज़ाहरी फौजी की यह क्रिया है तो फिर रूहानी या आत्मिक फ़ौजी के तो लक्षण और गुण और भी बड़े होने चाहिए।

सारांश यह कि इस युद्ध में शामिल हुए पुरुष को पहले अपने आप और उसके सम्बन्धी संसार से मुँह फेरना पड़ता है। और जब तक कोई ऐसा नहीं करता, वह इस युद्ध या संग्राम में शामिल नहीं हो सकता।

आध्यात्मिक लाल

लड़की—माँ, तुमको कुछ पता है! वह व्यापारी फिर आये हैं?

माँ—पुत्री, कौन व्यापारी? तुम इस तरह ख़ुश-ख़ुश क्यों उछल रही हो?

लड़की—माँ, वही पुराने व्यापारी जो अक्सर आगे भी आया करते थे।

माँ—आख़िर बोलोगी भी वह कौन हैं! मुझे तो याद नहीं आता।

लड़की—माँ, वही जो लालों (Rubies) का व्यापार किया करते हैं।

माँ—तो क्या गुप्त रीति से वह व्यापार कर रहे हैं? किस-किस को उन व्यापारियों के आने की ख़बर है?

लड़की—नहीं माँ, न मालूम तुमको क्या हो गया है। सुनो तो सही, वह तो हूकें आवाज़ें दे-दे कर लालों का व्यापार कर रहे हैं। क्या कोई क़ानून के विरुद्ध बात है जो वह ऐसा करते या उनके कोई लाल ख़राब हैं जो वह इस तरह छिप कर व्यापार करते?

माँ—अहा! कैसी अच्छी बात है कि फिर लालों के व्यापारी सामने आये। कितनी सुन्दर और क़ीमती चीज़ों का व्यापार करते हैं! परन्तु···!

लड़की—माँ, परन्तु क्या?

माँ—नहीं, कुछ नहीं।

लड़की—माँ, सुस्त क्यों हो गईं?

माँ—बेटी कुछ नहीं, तुम अपनी बात करो।

लड़की—तो माँ, वह आये हैं और लाल बेच रहे हैं।

माँ—तुम्हारा मतलब क्या है?

लड़की—तो क्या अभी तक समझी नहीं भोली माँ, या जान-बूझ कर ऐसा कर रही हो ?

माँ—आखिर तुम क्यों नहीं बोलतीं ?

लड़की—अच्छा तो मैं ही कहे देती हूँ। मेरी बात को काटना नहीं !

माँ—बोलो तो सही।

लड़की—तो मेरे मन में........। अब तो समझ गईं माँ ?

माँ—(मुस्करा कर) देखा, कैसी बातें कर रही है, साफ नहीं कहती। कहीं तो लालों के व्यापारियों का ज़िक्र और कहीं इस किस्म की आधी-पूरी बातें !

लड़की—तो माँ, मेरे दिल में अब यह आ ही गया है कि मैं इन लालों को ख़रीदूँगी। सुना है माँ कि वे बड़े ही सुन्दर होते हैं।

माँ—हाँ तो अब समझी कि तुम्हारा मतलब क्या है।

लड़की—(माँ के इशारे को भाँप कर) तो क्या तुम्हारा मतलब है कि मैं उन्हें न ख़रीदूँ ?

माँ—यह मैंने कब कहा कि न ख़रीदो ! अगर ख़रीद सकती हो तो ज़रूर ख़रीदो, लेकिन मुझे पता है कि तुम ख़रीद नहीं सकतीं।

लड़की—माँ, वह क्यों ?

माँ—(बात काट कर) लेकिन यह बताओ कि तुम उनको लेकर करोगी क्या ?

लड़की—माँ, मैं उनको कानों में पहनूँगी। लोग मुझे देखेंगे और मुझको बहुत बड़ी समझेंगे। माँ, तुमने भी कल किसी से कहते सुना था न, कि एक लड़की के कान में इस किस्म का लाल पड़ा था और वह संसार की दृष्टि में बहुत बड़ी हो गई थी। मै भी तो वैसी ही बनूँगी। माँ, देर न कर, मैं जा रही हूँ। ऐसा न हो कि व्यापारी चले जावें। अहा! जब मुझे उस समय की याद आती है कि मेरे कान में वे लाल लटक रहे होंगे तो मेरा जी बल्लियों उछलने लगता है। माँ, वह लाल कितने सुन्दर होंगे! माँ, तुमको न दूँगी, अगर तुम मांगोगी तो भी न दूँगी। मैं भी उनको किसी-किसी समय पहना करूँगी।

माँ—अगर पहन भी लिया तो क्या होगा?

लड़की—बड़ी भोली बनी जा रही हो। जब मैं उनको पहनूँगी माँ, तो लालों वाली कहलाऊँगी और दुनिया मेरी इज्जत उसी तरह करेगी जिस तरह आगे लालों वालों की करती आई है।

माँ—रहने दो, आज तो बहुत बड़ी-बड़ी बातें कर रही हो।

लड़की—मैं बड़ी, मेरे लाल बड़े, मेरी बातें बड़ी। छोटी बातें वह करें जिनके दिल छोटे हों।

माँ—बैठी रहो, तुम खरीद न सकोगी।

लड़की—माँ, तुम तो बुढ़िया हो गई हो। तुम तो हर बात मे यही कहा करती हो—यह न करो वह न करो। कभी यह भी कहती

हो कि यह किया करो वह किया करो; जाओ दौड़ कर लाल ले आओ ?

माँ—कह तो देती लेकिन मुझे मालूम है कि तू ख़रीद न सकेगी। अभी तेरे पास .....

लड़की इतना सुनते ही पल्ला छुड़ा कर भाग जाती है और माँ पीछे कहती है कि ईश्वर की क्या लीला है! कहाँ तो लाल जैसी क़ीमती चीज़ और कहाँ यह नादान बेसमझ लड़की जिसके पास पैसा तक भी नहीं! इसको काँच का तो व्यापार करना आता नहीं फिर यह लालों का व्यापार कहाँ से कर लेगी। न तो पास इसके पैसा है और न कोई ऐसा सामान कि जिससे यह लालों को ख़रीद सके। मैं निश्चय ही यह कह सकती हूँ कि यह बेसमझ है, मूर्खा है। (ज़ोर से छत पर खड़ी हो कर आवाज़ देती है) बेटी सुन-सुन! लौट आ, मत जा, यह ठीक नहीं है! वग़ैरह-वग़ैरह। लेकिन वहाँ सुनता कौन था, लड़की ने एक न सुनी और झट लाल वालों के पास जा पहुँची। लाल वाले उस ख़रीददार को एक मुद्दत के बाद आया देखकर बहुत ही ख़ुश हुए और पूछा—तुम कौन हो ?

लड़की—आपको मालूम है कि आप के पास आ कौन सकता है; सिर्फ वही कि जो आपकी चीज़ों का ग्राहक हो।

लाल वाले—तो क्या तुमको पता है कि हम किस चीज़ के व्यापारी हैं ?

लड़की—मैं यह पूछने नहीं आई कि आप क्या बेचते हैं; बल्कि यह दरियाफ़्त करने आई हूँ कि आपके लाल कहाँ हैं और किस क़ीमत के हैं।

व्यापारी—अच्छा-अच्छा, हम समझ गये। आज बहुत-ही अच्छा दिन है कि एक ख़रीददार का मुँह देखा।

लड़की—तो क्या अभी तक कोई गाहक सुबह से नहीं आया था ?

व्यापारी—सुबह से क्या, कई बरसों से कोई गाहक नहीं आया; गाहक की शक्ल ही नहीं देखी।

लड़की—तो क्या तुम चुपचाप व्यापार किया करते थे या आवाज़ें लगा कर ?

व्यापारी—हमारा काम आवाजे लगाना है।

लड़की—तो फिर गाहक क्यों न आये ?

व्यापारी—यह बात तो उनको ही मालूम होगी। लेकिन हमको ख़ुशी है कि आज हमने गाहक को देखा।

लड़की—(प्रसन्न होकर) देखा, मैं कैसी हूँ ! आख़िर मेरी इज्जत तो अभी से शुरू हो गई ! माँ तो वैसे ही कुछ न कुछ कह दिया करती हैं। आख़िर क्यों न हो, हमसे गाहक भी तो अक्सर ही हुआ करते हैं।

व्यापारी—आज क्या अच्छा दिन है कि गाहक का मुँह देखा है, नहीं तो हमको एक मुद्दत बैठे-बैठे हो गई है।

ख़ुदा तो मिलता है इन्सान ही नहीं मिलता।
यह चीज वह है जो देखी कहीं-कहीं मैंने॥

भगवान् तो सारे हैं ही, सिर्फ़ उनके चाहने वाले ही कम मिलते हैं; और कहीं-कहीं मिलते हैं। फिर कौन कह सकता है कि जो चाहने वाले नजर आते भी हैं उनमें से भी सच्चे चाहने वाले कौन हैं।

लड़की—लेकिन देर हो रही है। मैं लाल ख़रीदने आई हूँ, इसलिए मुझको लाल दिखाइए।

व्यापारी सन्दूक खोल कर लालों को उसके सामने रख देते हैं, और वहाँ चारों तरफ़ रोशनी की दमकें निकलने लगती हैं। लड़की देखकर बहुत ख़ुश हो जाती है कि अहा! कितने सुन्दर लाल हैं। क्या इन्हीं को लाल कहते थे! एक से एक अच्छा है, किसको ले किसको न लें। अच्छा, जब मैं इनको कान में पहन कर घूमूँगी तो कैसे भले मालूम होंगे! कितने अच्छे व्यापारी हैं, सब के सब लाल उठा कर मेरे सामने रख दिये हैं।

लड़की—लाल तो वाक़ई सुन्दर हैं लेकिन इनकी क़ीमत भी तो बताइए?

व्यापारी—क़ीमत पूछने से क्या फ़ायदा, लाल तो बहुत सस्ते हो गये हैं।

लड़की—यह क्यों? क्या ख़राब हैं या पुराने हो गये हैं?

व्यापारी—नहीं, यह ख़राब तो होते ही नहीं और न ही इनका पुरानापन इनकी क़ीमत को कम करता है।

लड़की—तो फिर सस्ते क्यों हो गये ?

व्यापारी—चूँकि इनके चाहने वाले कम हो गये हैं। और यह नियम है कि जब गाहक ज़्यादा हों और चीज़ कम हो तो चीज़ महँगी हो जाती है और जब गाहक कम हों और चीज़ ज़्यादा हो तो चीज़ सस्ती हो जाती है। इनके सम्बन्ध में भी यही बात है।

लड़की—(खुश होकर) माँ तो वैसे ही बोला करती है। देखा, लाल भी मिल गये और वह भी खूब सस्ते हो रहे हैं। देखी माँ मेरी चतुराई !

व्यापारी—अच्छा, तो कितने लाल चाहिए ?

लड़की—फिर भी कीमत तो बताइए।

व्यापारी—अच्छा बताये ही देते हैं। मामूली-सी कीमत है, सस्ते हो गये है। सिर्फ सिर देने की कीमत से मिल सकते हैं। देखा, यह किस कदर सस्ते हो रहे हैं ?

लड़की—(चौंक कर) यह क्या कह रहे हैं ! सिर माँग रहे हैं सिर ! और कह रहे हैं कि बहुत सस्ते हो गये हैं। वाह, आये कहीं के व्यापारी सिर माँगने वाले ! इतना भी नहीं जानते कि मैं कौन हूँ, मैंने आज तक अपने आप को हर तरह के ऐश और आराम से पाला है और यह माँग रहे हैं सिर, और फिर भी उसका कि जिसने आज तक कभी सुई की चुभन को नहीं देखा।

लड़की—व्यापारियो ! अच्छा रहने दो, अभी ज़रा सन्दूक़ बन्द कर लो। मैं जरा सोच लूँ फिर खरीदूँगी।

व्यापारी सुस्त हो जाते हैं कि आह ! इस क़दर सस्ती क़ीमत से भी कोई इन लालों का गाहक नहीं है। मुद्दत के बाद एक गाहक मिली थी वह भी झूठी निकली।

दूसरा व्यापारी—उसने यह तो नहीं कहा कि वह न ख़रीदेगी। वह तो कह गई है कि अभी रख लो, मैं सोच लूँ।

पहला व्यापारी—ख़रीदने वाले और होते हैं। वह तो चट झपट ही पड़ते हैं, चीज़ को लेकर ही उठते हैं। वह तो अपनी कमज़ोरी को छिपाना चाहती है। आख़िर हम भी तो पुराने व्यापारी हैं, किस बात को नहीं जानते ?

इधर लड़की बड़ी तेज़ी के साथ घर को मुड़ती है। उसकी सहेलियाँ इन्तज़ार मे बैठी हैं और यह देखना चाहती हैं कि वह कौन-सा लाल खरीद कर लाई है। आख़िर मनचली सहेली थी, हम में तो हिम्मत न पड़ी कि वहाँ जायँ और जाकर खरीद सकें। न मालूम हमारी सहेली इतनी धनवान कहाँ से हो गई जो झट लाल ख़रीदने चली गई (लड़की घर पहुँचती है, सहेलियाँ इर्द-गिर्द से घेर लेती हैं।)

सहेलियाँ—बहिन, पहले लाल दिखाओ कहाँ हैं। हम जरूर देखेंगी।

लड़की—मेरे पास नहीं है।

सहेलियाँ—तो क्या तुमको यह ख़्याल है कि हम इस तरह बहक जायँगी। हम देखे बग़ैर न रहेंगी।

लड़की—मेरे पास नहीं है। मैं तुम से सच कहती हूँ।

सहेलियाँ—इसी तरह ही कहा करते हैं। माँ जब तुम को रोकती थी तो भी तुमने कहा था कि मैं सचमुच उन लालों को ख़रीद कर लाऊँगी। तुम ज़रूर लाई हो और छिपा रही हो।

लड़की—तो कौन-सी अच्छी चीज़ है कि जिसको छिपा रही हूँ।

सहेलियाँ—क्या कहा, अच्छी चीज़! और कौन-सी अच्छी चीज़ है? यह बहाना है कि हम उस सुन्दर लाल को न देख सकें। अगर तूने उसको अच्छा न समझा था तो खरीदा ही क्यों?

लड़की—छोड़ती भी हो! मेरे पास कोई लाल-वाल नहीं है।

माँ—नहीं, ज़रूर लेकर आई होगी, ज़रूर देखो। मैंने इतना रोका था, पर चली ही गई, तो क्या अब भी ख़ाली हाथ वापस आई होगी? यह सब इसके बहाने हैं और सब को इस तरह टाल रही है।

लड़की—मैं सच कहती हूँ, मेरे पास कोई लाल नहीं है।

सहेलियाँ—अरी पकड़ो इसको और इसकी जेबें टटोलो।

लड़की—रहने दो, पहले बात तो सुन लो।

सहेलियाँ—अच्छा, कहो।

लड़की—जब मैं लाल वालों के पास गई तो वह मुझे देखकर बहुत ख़ुश हुए और मैं भी ख़ुश हुई कि मुझे लाल वाले मिल गये। लेकिन जब मैंने उनसे लाल दिखाने को कहा तो वे हँस कर कहने लगे कि यह हैं लाल; और जब कीमत पूछी तो

झट कह दिया कि बहुत सस्ते हैं,बहुत ही सस्ते हैं। और जब सस्ती कीमत पूछी तो कहने लगे कि हाँ, सिर उतार दो, तुमको लाल मिल जायँगे। सुना, मैं क्या कर रही हूँ, उन्होंने मुझ से क्या कहा ? और सुनिए एक तो लाल भद्दे-भद्दे और भारी-भारी और दूसरे कीमत इस कदर ज़बरदस्त ! और तुम जाननी हो कि मैंने अपने आप को किस तरह पाला है। आज तक काँटे और सुई की चुभन का भी मुझे ज्ञान नहीं तो फिर मैं सिर देकर ऐसे भद्दे लाल क्योंकर ख़रीद सकती थी। वह तो अजब व्यापारी हैं, भारी और भद्दी चीजों की यह कीमत माँग रहे हैं।

सहेलियाँ—(गुस्से में आकर) बस चुप रह, फिर ऐसा मुँह से लफ्ज़ न निकालना। लाल भद्दे और भारी ! तुझको कहते ज़रा सङ्कोच नहीं होता! और सिर देना क़ीमत ज़्यादा और बहुत ज़्यादा ! ज़रा देख तो सही कि तू जो इस क़दर भारी और मोटी है वह तो सूक्ष्म और हल्की बनी बैठी है और लाल जो कि चार माशे अति सुन्दर, अति प्रिय हैं उनको तू इस तरह भद्दा, भारी और बदशकल बता रही है। तू अपनी कमज़ोरी और गरीबी को इस तरह छिपा रही है ? तेरा दिल जानता है कि लाल सुन्दर हैं, अति सुन्दर हैं और तू क़ीमत अदा नहीं कर सकती। फिर तू इस तरह अपनी कमज़ोरी को उनको भद्दा कह कर छिपा रही है। अच्छा होता कि तू यह कहती कि लाल तो सुन्दर हैं, कीमती हैं लेकिन मेरे पास ही क़ीमत अदा करने की शक्ति न थी। हम तेरी यह बात सुन कर ख़ुश होतीं। लेकिन तेरी यह चतुराई हमको

पसन्द नहीं है। क्या तू सच कहती है कि लाल भद्दे और भारी थे और तेरे पास कीमत अदा करने की ताकत थी ? देख, हमसे सुन। तुझ से पहले भी लाखों आदमी व्यापारियों के पास लाल खरीदने गये थे और उन्होंने अपने सर उतार कर दे दिये थे और लाल खरीद लिये थे और वे दुनिया में लालों वाले कहलाये थे। लेकिन हमको हैरानी है कि तू कैसी है जो इस तरह की बातें बना रही है। सुन, अगर सिर देने से लाल मिल सकें तो फिर कहना ही क्या है ! हज़रत बुल्लेशाह भी इस तरह दिल को कहते हैं कि जो सिर देने से प्यारा मिलता है तो तू बहुत सस्ता समझ, क्योंकि सिर वह चीज़ है कि जो एक दिन न रहेगा। जिसको रहना ही नहीं, ख्वाह उससे कुछ खरीदें या न खरीदें; क्योंकि उसको तो रहना ही नहीं। इसलिए जिसको रहना ही नहीं उससे कुछ मिल सके तो क्या हर्ज है !

दर हक़ीक़त इस रास्ते पर जब तक अपने आप से हाथ न धो ले, ईश्वर-प्राप्ति कठिन है। पस ऐ योद्धा ! देख ले कि तू असली मानी में इस चीज़ के लिए तैयार है या नहीं। यहाँ तो शर्त सिर्फ इतनी है कि तू उसको पाने के लिए किसी चीज़ की भी परवा न करे।

और जब मनुष्य इन शरायत को मन्जूर कर लेता है तो फिर इस फौज में भरती हो जाता है यानी साधन-सम्पन्न सच्चा जिज्ञासु बन जाता है और इसके बाद असत् और आसुरी वृत्तियों से

मुकाबले के लिए तैयार हो जाता है; या उस तमाम (element) तत्त्व को चैलेञ्ज दे देता है कि जिससे कोई भी अंश दुःख या अज्ञान का पैदा हो सकता है। इस युद्ध में इसको फिर अपनी खोई हुई हुकूमत या साम्राज्य को वापस लेना होता है। यह उसके लिए बे-रोक-टोक मेहनत करता है और कहता है कि या तो इस युद्ध मे मैं कामयाब होऊँगा या मैं न रहूँगा। गोया इस वक्त यह अपने इरादे में मजबूत और मुस्तकिल होकर लड़ने को तैयार हो जाता है। इसकी इस अवस्था को देख बड़ा कमाण्डर इसको लड़ने के तमाम सामान देता रहता है कि जिनसे यह समय-समय पर अपने शत्रुओं का मुकाबला कर सके।

इच्छा-दमन

शत्रुओं की सेना

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार और इनके सहायक गम, फिकर, राग-द्वेष आदि शत्रुओं की सेना है। काम के मानी इच्छा के होते हैं। जब यह शत्रु मनुष्य पर हमला करता है तो मनुष्य की अवस्था अत्यन्त ख़राब हो जाती है।

सब को दुनिया में हवस ख़्वार लिये फिरती है।
कौन फिरता है, यह बदकार लिये फिरती है॥
चाह चूड़ी चमारी चाह नीचन की नीच।
तू तो पूरन ब्रह्म है जो चाह न होवे बीच॥
चाह गई चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिए, सो शाहनपति शाह॥

संसार में अमीरी का दर्जा (standard) यह है कि जिसके पास सामान बहुत हों—रुपया ज्यादा हो; लेकिन महात्मा उसको अमीर समझते हैं कि जिसके पास जितनी इच्छाएँ कम हों वही अमीर है। लोग शान्त पुरुष की परिभाषा (तारीफ) यह करते हैं कि जिसको किस्म-किस्म के आराम के सामान मिल रहे हों, लेकिन महात्माओं की परिभाषा यह है कि शान्त पुरुष वह है कि जिसकी जितनी ख्वाहिश कम हो।

संसार में दो चक्कर चल रहे हैं—एक इच्छाओं के मुताबिक सामान ढूँढ़ रहे हैं और दूसरे सामान के मुताबिक इच्छाओं को पैदा करते हैं या इच्छाओं ही को कम कर रहे हैं। पहले अमीर, राजा, बादशाह और शहन्शाह कहलाते हैं; दूसरे महात्मा, फक़ीर ऋषि और ज्ञानी कहलाते हैं। एक और तीसरी क़िस्म के भी हैं जो कुल तरक्की कर लेने पर यानी इच्छाओं के मुताबिक सामान पैदा करते-करते इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इससे शान्ति नहीं मिल सकती, और वह इसके बाद इच्छाओं को कम करने लगे हैं और सामान का त्याग करने लगे हैं।

एक चौथी क़िस्म भी है, वह यह कि जो सामान और इच्छाओ दोनों को रखते हैं, लेकिन इच्छाओं को सामान के अधीन कर के या अपने मातहत करके। पहले केवल संसारी हैं, दूसरे केवल ज्ञानी, तीसरे संसारी होने के पश्चात् त्यागी हैं और चौथे रागी और वैरागी एक ही समय में हैं। पहलों में

इच्छाओं की भरमार है, दूसरों में इच्छाओं का अभाव, तीसरों मे इच्छाओं की भरमार के बाद उनका त्याग है, चौथे में इच्छा भी है और उन पर शासन भी; यानी control भी।

जब मनुष्य के मन में इच्छा पैदा होती है तो वह उसके मातहत हो जाता है और जिस चीज की इच्छा होती है उसके पीछे मारा-मारा घूमता है। गोया मनुष्य अपनी इच्छा के यहाँ तक मातहत हो जाता है कि वह उसके हुक्म की नाफ़रमानी यानी आज्ञा का भङ्ग कर ही नहीं सकता। अब यह बेचारी 'इच्छा' की मर्ज़ी है कि उससे जो चाहे करवाये। उसमें यह हिम्मत कहाँ कि वह इससे अपना पीछा छुड़ा सके। ख़ैर, अगर बड़े प्रयत्न के पश्चात् एक इच्छा पूर्ण हो भी गई तो झट दूसरी सवार हुई, दूसरी के बाद तीसरी, उसके बाद चौथी इत्यादि-इत्यादि। गोया यह चक्कर इसी तरह चलता जाता है और ख़त्म नहीं होता।

जब तक इच्छा पैदा नहीं हुई थी, मनुष्य अपने हाल मे प्रसन्न था; लेकिन जब इच्छा पैदा हुई तब वह उसके मातहत हो गया। अब प्रश्न यह है कि वह इच्छा पैदा क्यों हुई? किस चीज़ को हासिल करने के लिए? और चीज़ को हासिल करने की इच्छा क्यों पैदा हुई? ताकि उसको पाकर शान्ति हासिल करे। अब फ़र्क़ क्या हुआ? पहले यह तालाब की तरह शान्त था फिर इच्छा रूपी हवा ने इसके दिल मे लहर पैदा कर दी। जब उस लहर ने अपने ध्येय को प्राप्त कर लिया तो वह फिर शान्त हो गई। अब

मालूम तो यह हुआ कि शान्ति हमको उस चीज़ के मिलने से मिली लेकिन हम समझते हैं कि शान्ति उस चीज़ का नाम है कि जो लहर इच्छा की शक्ल में उस पदार्थ को देखकर आई थी, और जिसने अपनी आत्मा से बेगाना कर दिया था। वह लहर उस चीज़ के आने से अपने साथ आप मिल गई। दुःख कब हुआ था? जब उस लहर ने अपने से अलहदा कर दिया था। अब वियोग तो था अपना और ख्याल होता है कि वियोग था उस पदार्थ का जिसकी वजह से मैं दुःखी हूँ, और जब चीज़ मिल गई तो मिलाप या संयोग हुआ अपने से, लेकिन ख्याल यह बना रहा कि संयोग है उस पदार्थ से। दरअसल बाह्य पदार्थ एक धोखा और भ्रान्ति हैं; जिनका काम इतना ज़रूर है कि अपने अनिर्वचनीय चमत्कारों से आत्मा को उसी का वियोग और संयोग देकर यह नाम करते हैं कि यह हमारे वियोग और संयोग से इसको दुःख और सुख हो रहा है।

दृष्टान्त के रूप में एक पदार्थ आप के सामने पड़ा है। आप इसको चाह रहे हैं, लेकिन जब तक वह आप को मिला नहीं, आप दुःखी हो रहे हैं और समझते हैं कि यह दुःख आपको उस पदार्थ के न मिलने की वजह से हो रहा है। अच्छा, दूसरी दफा ऐसा होता है कि वही पदार्थ आपके सामने है लेकिन वह आपको अपने किसी भी चमत्कार से आप से आप को जुदा नहीं कर सका। तो फिर पदार्थ तो सामने है, लेकिन आपको दुःख

नहीं हो रहा है। अगर यह दु.ख उस पदार्थ की वजह से ही होता तो फिर भी होता। दूसरा दृष्टान्त—एक पदार्थ आपको चाहने के बाद मिल गया है, और आप सुखी हो रहे हैं। दूसरे समय वही पदार्थ आपको बग़ैर चाह के मिल रहा है तो आपको कोई सुख नहीं होता। तो इसका मतलब यह हुआ कि उस पदार्थ मे सुख देने की शक्ति नहीं।

दुःख क्या है?—किसी को देख कर अपने से जुदा हो जाना, या किसी चीज़ को चाह कर उसकी तरफ यहाँ तक चलना कि अपना आप ही भूल जाय! संक्षेप में दुःख अपनी आत्मा के वियोग का नाम है। और सुख क्या चीज़ है?—उस बाह्यवृत्ति का (कि जो किसी चीज़ को देख कर अपने से जुदा हो गई थी) अपने अन्दर आ मिलना या बाहर के पदार्थ की इच्छा का न रहना। इसका मतलब तो यह हुआ कि सुख और दु.ख बाहर की चीजें नहीं हैं बल्कि अपने अन्दर के पदार्थ हैं।

प्रश्न—तो क्या आत्मा का स्वरूप सुख है?

उत्तर—वह तो सुख से परे की चीज़ है।

प्रश्न—तो फिर उसको सुख रूप क्यों कहा?

उत्तर—वह इसलिए कि वह दु.ख की प्रतीति के बाद मिलता है। जो दुःख की अपेक्षा से हो वह सुख होता है।

प्रश्न—तो फिर आत्मा का स्वरूप क्या है?

उत्तर—वह दुःख-सुख से परे है। आत्मा का स्वरूप वह है कि जब किसी वस्तु के वियोग से अपना वियोग हुआ था उससे पहले की अवस्था आत्मा का स्वरूप है, या दुख के बाद सुख के भी ख़त्म हो जाने पर जो बाकी रहता है वह आत्मा का स्वरूप है।

अगर किसी को यह पता लग जाय कि दुःख अपनी ही आत्मा से वियोग का नाम है और सुख अपने ही सयोग का तो फिर वाह्य पदार्थों की इच्छा सुख के लिए क्यों रह जायगी? जो मनुष्य संसार में किसी भी चीज़ को देखकर इच्छा पैदा नहीं करता उसको कभी अपनी आत्मा का वियोग नहीं होता और जिसको वियोग नहीं उसको दुःख नहीं, और जब दुःख नहीं तो उसके वास्तविक स्वरूप का आनन्द उसके सामने रहता है।

प्रश्न—वाह्य पदार्थों में आकर्षण है, वह मन को खींच ही लेता है, फिर हम इच्छा को रोक ही क्योंकर सकते है?

उत्तर—वाह्य पदार्थों का आकर्षण क्या चीज़ है—सिर्फ उनकी असलियत या उनके असली मर्म को न समझना या अपनी आत्मा और उसके महत्त्व से अज्ञानी होना।

अगर किसी को मालूम हो जावे कि जिस सुख को मैं ढूँढ़ रहा हूँ वह इनमे नहीं है तो उनका आकर्षण फौरन खत्म हो जायगा। अगर किसी को मालूम हो जावे कि जिस सुख की तलाश मे मैं इन पदार्थों की तरफ दौड़ा चला जा रहा हूँ और

उस (सुख) का समुद्र मेरे अन्दर मौजूद है तो फिर बाह्य पदार्थों का आकर्षण जाता रहेगा।

एक आदमी को सामने पड़ी चाँदी नज़र आई, वह उसकी तरफ़ दौड़ा। लेकिन जब वहाँ पहुँचा तो क्या देखता है कि वहाँ चाँदी नही है; वहाँ तो एक सीपी पड़ी है। वह घबराकर वापस आ गया और जब उसने फिर उस तरफ़ आँख उठाई तो उसको फिर वही चाँदी नज़र आई, लेकिन वह उस तरफ़ न गया, क्योंकि उसके लिए उसके वास्तविक स्वरूप को समझ कर उसका आकर्षण जाता रहा।

एक शख़्स को मालूम हुआ कि बाहर पैसे बँट रहे हैं। वह ग़रीब था, वह वहाँ माँगने के लिए चला। एक धनी ने रास्ते मे पूछा, तुम कहाँ जा रहे हो ? उसने जवाब दिया कि मैं पैसे लेने जा रहा हूँ, फलाँ जगह बँट रहे हैं। उसने उसका हाथ पकड़ कर कहा कि मैं तुमको ख़ुशख़बरी (बधाई) देने आ रहा था कि एक ज्योतिषी ने निश्चयात्मक हो कर यह बतलाया है कि आपके घर फलाँ जगह पर हीरे-जवाहरात दबे पड़े हैं। वह फ़ौरन वहाँ भाग आया और आकर उस ख़ज़ाने को निकाल लिया। दूसरे दिन उसने फिर सुना कि एक राजा साहब अशर्फ़ियाँ बाँट रहे हैं, लेकिन उसने परवाह तक न की। किसी ने पूछा, यह क्या ! कल एक पैसे का हाल सुन कर इस तरह भागे गये थे और आज अशर्फ़ियों की भी परवाह नहीं, आख़िर यह क्या बात है ? उसने जवाब

दिया—तुम ख़ुद ही समझ सकते हो कि जब तक मुझे अपने पास कुछ नज़र न आता था मैं पैसे के लिए भी दौड़ रहा था। लेकिन जब मुझे अपने घर में बादशाहों से भी ज़्यादा दौलत मिल चुकी है तो फिर मैं कहाँ जाऊँ और किन मामूली चीज़ों के लिए जाऊँ? उन अशर्फ़ियों का आकर्षण उसके दिल से इसलिए जाता रहा कि उसको अपने घर में लाइन्तहा दौलत नज़र आ गई।

तेरे सीने में तो पिनहाँ बहरे बेपायाँ रहे,
और तू कतरे के पीछे शाकियो नालाँ रहे॥
कर दे आलम को जो पिनहाँ तुझमें वह तूफ़ाँ रहे,
और तू साहिल पै बैठा इस तरह गिरियाँ रहे॥

अर्थात्—तेरे अन्दर तो आनन्द का अनन्त समुद्र मौजूद है और तू एक सुख रूपी विन्दु के लिए मारा-मारा फिर रहा है। तेरे अन्दर तो वह प्रेम और आनन्द का ज़बरदस्त तूफ़ान है कि जो इस तमाम दुनिया से कहीं बड़ा है, लेकिन हैरानी तो यह है कि तू अज्ञानवश आनन्द के किनारों पर बैठा रो रहा है।

संसार क्या वस्तु है?

वेदान्त (वेदान्त की दृष्टि से) का कहना है कि तत्त्व संसार में केवल एक है बाकी सब भ्रम है। दो सत् पदार्थ संसार में रह नहीं सकते। क्योंकि अगर दो सत् पदार्थ होते तो परिच्छिन्न महदूद

(limited) होते और जो परिच्छिन्न और सीमित होते वह आकार सहित होते और आकार बगैर परमाणुओं के न होता, और परमाणुओं के एक खास तरह से मिलने का नाम वह शक्ल या आकार होता, इसलिए उसका अन्त नाश भी होता; क्योंकि जो दो मिलते हैं उनका भावार्थ ही यह है कि वह मिलने से पहले जुदा थे। और जो मिलने से पहले जुदा थे वह मिलने के बाद भी जुदा हो जायँगे, इसलिए उनका अस्तित्व नाश से रहित नहीं हो सकता। इसलिए सत् केवल एक है। लेकिन आप पूछ सकते हैं कि जब सत् केवल एक है और निरवयव और निराकार है तो फिर जो कुछ हमको नज़र आ रहा है यह क्या है? यह सत् है या असत्? अगर सत् कहें तो वेदान्त के सिद्धान्त से विरुद्ध होता है, और अगर असत् कहें तो नज़र क्यों आता है? फिर यह असत् ऐसा है कि जो सत् तो किसी रूप मे सीमित भी करता है या नहीं? अगर करता है, को यह भी किसी अंश में सत् हुआ और अगर सीमित नहीं करता तो फिर इसका अपना अस्तित्व ही कुछ न हुआ, और जब अस्तित्व कुछ नहीं तो प्रतीति असंभव हो जायगी। लेकिन हमको तो प्रतीति होती है इसलिए इसका अस्तित्व है और जब अस्तित्व है तो यह सत् है इसलिए पहले सत् को ज़रूर सीमित करता है। यह सिद्धान्त गलत है कि सत् पदार्थ एक ही हो सकता है दो नहीं।

इसका उत्तर यह है कि प्रतीति सत् ही की होती है, यह ज़रूरी नहीं। आपको स्वप्न की प्रतीति होती है, मृग-तृष्णा के जल की

प्रतीति होती है, रज्जु मे सर्प की प्रतीति होती है, सीपी मे चाँदी की प्रतीति होती है, तो क्या स्वप्न-सृष्टि और मृग-तृष्णा का जल आदिक सत् पदार्थ हैं ? जिस तरह स्वप्न की सृष्टि द्वैत को नही हटाती बल्कि दिखाती है, या मृगतृष्णा का जल प्यास नही बुझा सकता, उसी तरह यह नज़र आने वाली सृष्टि उस असली तत्व मे फर्क पैदा नहीं करती, सिर्फ नज़र ही आती है; इसलिए सत् एक ही है। और अगर सच पूछें तो प्रतीति तो हमेशा सत् ही की होती है। अनुभव ऐसा होता है कि मुझको और चीजों की प्रतीति हो रही है। जिस तरह रस्सी में जो साँप की प्रतीति है वह दरअसल रस्सी ही का बिगड़ा हुआ स्वरूप है, क्योंकि अगर रस्सी न हो तो सर्प की प्रतीति हो ही नहीं सकती, इसलिए हमको सर्प में नजर क्या आ रहा है ? केवल रज्जु; लेकिन अनुभव ऐसा होता है की साँप नजर आता है गोया साँप क्या चीज़ है ? उसका अच्छी तरह नज़र न आना। अगर रस्सी बिलकुल ही नज़र न आवे तो साँप भी नज़र नही आ सकता, और अगर रस्सी अच्छी तरह नज़र आ जावे तो भी साँप नज़र नही आ सकता। साँप तो उस वक्त नज़र आता है कि जब रस्सी कुछ नज़र आवे और कुछ न आवे। गोया सांप कब नज़र आया ? जब रस्सी ठीक तरह नज़र न आ सकी। दूसरे शब्दों मे—साँप क्या चीज़ है ? रस्सी का अच्छी तरह नज़र न आना। अब साँप रस्सी को सीमित किसी तरह भी नहीं कर सकता क्योंकि उसका अस्तित्व ही कुछ नहीं, और प्रतीति इसलिए होती

है कि यह मन्द दृष्टि का विकार है। हमने साँप में जो कुछ देखा, अनुभव किया या प्रतीति हुई वह तो रस्सी ही की थी या रस्सी के अधीन थी, लेकिन ख्याल ऐसा हुआ कि यह प्रतीति सर्प की हो रही है; ज्योंही प्रकाश में उस रस्सी को देखा, सर्प कभी हुआ ही न था। रज्जु के ज्ञान पर सर्प कहाँ गया, उसमें मिल गया या बाहर भाग गया ? जिस तरह लोहे का तकुला (तकुवा) टेढ़ा हो जावे और उस पर कोई हथौड़ा मारे तो उसका व्यङ्ग कहाँ जाता है ? उसी में मिल जाता है कि जिसके सहारे वह कायम था, इसी तरह जिस अधिष्ठान सत्ता पर सर्प की प्रतीति हो रही थी उसी अधिष्ठान सत्ता में वह लीन हो गया या यों कहिए कि जिस मन्ददृष्टि का वह विकार था, उसी मन्द दृष्टि के साथ वह भी खत्म हो गया। यह कहना कि असत् सर्प का अभाव हुआ, यह गलत है; क्योंकि असत् तो वह होता है कि जो पहले ही न हो, और जो पहले ही न था और फिर न रहा यह कैसी हँसी की बात है। तो यों कहना पड़ता है कि सर्प त्रिकाल में हुआ ही न था, केवल हमारी ही मन्द दृष्टि से उसकी प्रतीति हुई थी या अधिष्ठान के अज्ञान से कल्पित की धारणा बन गई थी। लेकिन एक और ज़बर्दस्त बात (point) भी हमारे सामने है और वह यह कि एक समय में एक ही वस्तु रह सकती है क्योंकि जब तक हमको कल्पित सर्प का भान होता रहा सत् रज्जु का ज्ञान न हुआ और जब सत् रज्जु का ज्ञान हुआ असत् सर्प कभी था ही नहीं।

है ? जल में। गोया बुलबुले के नामरूप का कुल दारोमदार जल पर ही है। अगर जल न हो तो बुलबुला हो ही कहाँ सकता है ? इसलिए बुद्बुद में नामरूप की प्रतीति स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है बल्कि जल के अधीन है। अब आप जल मे क्या देख रहे हैं ?—बुलबुला। और बुलबुले में क्या देख रहे हैं ?—जल। अब देखना यह है कि जल नामरूप के बगैर रह सकता है या बुलबुला जल के बगैर रह सकता है। बुलबुला तो जल के बगैर रह ही नहीं सकता, लेकिन जल बुलबुले के बगैर रह सकता है। क्योंकि बुलबुले के न होने पर जल रह सकता है लेकिन जल के बगैर बुलबुला नहीं रह सकता; इसलिए मालूम होता है कि जल स्वतन्त्र तत्व है और बुलबुला परतन्त्र है।

दूसरे, जल में बुलबुले का नामरूप न तो उसके वजन को बढ़ाता है और न ही घटा सकता है, इसलिए उसका होना न होने के बराबर है। अगर कोई कहे कि नहीं, जल भी बगैर नामरूप, आकार के नहीं रह सकता, क्योंकि अगर वह बुलबुला न होगा तो फिर दरिया या समुद्र ही होगा, आखिर कुछ तो होगा; इसलिए वह परतन्त्र है। तो उसका जवाब यह है कि अव्वल तो उस नामरूप का होना ही कुछ नहीं, क्योंकि एक नामरूप दूसरे में बदल रहा है और दूसरे, अगर नामरूप कुछ है भी तो उस जल का अपना ही चमत्कार या पसारा है। जल तो इसलिए सत् और स्वतन्त्र है कि हर नाम रूप में एक ही रस है और नामरूप इसलिए परतन्त्र और असत् हैं कि बदल रहे हैं। अगर कोई कहे कि

नहीं, नामरूप भी सत् हैं क्योंकि उनका नाश तो नहीं होता, एक के बाद दूसरा बन जाता है तो उसका जवाब यह है कि एक के बाद जो दूसरा नामरूप बनता है उसमें पहले नामरूप का अत्यन्त अभाव पाया जाता है, लेकिन जल का अत्यन्ताभाव तो किसी भी शक्ल में नहीं होता; इसलिए जल ही एक सत् वस्तु है। और नामरूप भी सत् हो सकते हैं सिर्फ इस शक्ल में कि अगर उनको सत का लिबास समझा जावे और यह कहा जावे कि वह अपने एक नामरूप को समेट कर दूसरा बना लेता है। लेकिन कोई कहे कि नहीं, नामरूप भी सत है क्योंकि वह अपने अस्तित्व को सत् में हमेशा रखते हैं। अगर सत् में वह न हों तो कभी सामने ही क्यों आ सकें क्योंकि यह नियम है कि असत् की प्रतीति और उत्पत्ति हो नहीं सकती; तो इसका उत्तर प्रश्न के रूप में यह है कि नामरूप जिनका अस्तित्व आप सत् रूपी जल में हमेशा मान रहे हैं वह सत् से एक हैं या दो? अगर सत् से एक होकर रहते हैं तो सत् आप ही हुआ अलहदा नामरूप नाश हो गये और अगर अलहदा नामरूप हैं तो उसका सत् जल से अलहदा होना ही उनके असत् होने का प्रमाण बन जायगा क्योंकि यह नामरूप परिणामी है और सत परिणाम से रहित है, उसमें तब्दीली नहीं। इसलिए वेदान्त का सिद्धान्त है कि तत्त्व संसार में एक है दूसरा नहीं।

प्रश्न—अगर तत्व केवल एक है तो यह जगत कहाँ से आ गया?

उत्तर—यह प्रश्न ही क्या प्रश्न है कि जब सब कुछ एक है तो यह जगत कहाँ से आ गया ! इसका भावार्थ यह है कि आप अभी तक यह नहीं समझे कि वेदान्त का सिद्धान्त क्या है। उसने जब यह कहा कि तत्व एक है तो फिर 'यह जगत्' और आपकी 'कहाँ' आश्चर्य यह है, कहाँ से आ गईं ?

प्रश्न—इसीलिए तों हम पूछते हैं कि सिद्धान्त तो यह है कि तत्व एक है और यहाँ नज़र आ रहे हैं बेइन्तहा अनन्त पदार्थ, फिर हम क्यों न पूछें, यह कहाँ से आ गये ?

उत्तर—जब तत्व एक है, अनन्त, असीमित और अपरिच्छिन्न है तो उसके बाहर तो कुछ रहा ही नहीं, फिर अगर कुछ आया होगा तो उसी से आया होगा, लेकिन आश्चर्य तो यह है कि अपने में आप आने के मानी ही क्या होते हैं ? अपने से आप आया है, अपने से आप मिला है, अपने से आप जुदा हुआ—कितना आश्चर्यजनक है ! जब तत्व केवल एक है तो न तो कुछ आया, न कहीं से आया, न कहीं गया और न ही जा सकता है; क्योंकि देश काल भी उस तत्व से बाहर नहीं है। आपके प्रश्न से ऐसा प्रतीत होता है कि आप यह मान रहे हैं कि वेदान्त के सिद्धान्त के मुताबिक देशकाल और वस्तु उस तत्व से कहीं बाहर हैं जहाँ से यह जगत बन-सँवर कर आ जाता है। नहीं, सिद्धान्त तो यह है कि उसके बाहर कुछ नहीं। अगर यह पूछा जाय कि देश काल और वस्तु से तो जगत आया, जो

ब्रह्म तत्व से बाहर थे लेकिन वह देश काल और वस्तु कहाँ से आ गये, तो वड़ी गड़वड़ हो जायगी क्योंकि समय कितने बजे शुरू हुआ, जगह या देश किस जगह से शुरू हुआ और वस्तु का कारण क्या था ? यदि उसका जवाव यह दिया जावे कि टाइम ६ वजे से आया था, तो इसका मतलव यह हुआ कि उस टाइम से पहले भी कोई टाइम था और फिर छ. बजे कितने समय से आये, तो उसके लिए फिर टाइम मुकर्रर किया। इस तरह अनवस्था-दोष आ गया। देश उस देश से आया तो वह देश किस देश से आया ? फिर वही वात वन गई ! कारण उस कारण से आया और वह कारण किस कारण से आया; यह भी हैरानी है ! सिलसिला खत्म न होगा।

यह सब कुछ अगर आया है नज़र आता है या वना है तो उसी एक तत्व से ही आया होगा, वना होगा या नज़र आता होगा। उस तत्व ने विगड़ कर इस विकार को वनाया, यों ही कह लीजिए। पानी ने विखर कर कई शक्लें अख्त्यार कर लीं, लेकिन उसमे देश बाहर आ जायगा क्योंकि वह किसमे विखरा ? अपने में या दूसरे में ? दूसरे मे तो बिखर नहीं सकता क्योंकि दूसरा है नहीं, इसलिए अपने में विखरा होगा। अपने में विखरा तो देश कहाँ से आ गया ? गोया जब उसने विखरने का संकल्प किया तो जहाँ उसके विखरने ने और शक्लें धारण कीं वहाँ उसने देश का आकार भी धारण कर लिया। जिस तरह जब आप सिकुड़ जावे, तो भी आप होते है, और बिखर

जावें तो भी आप, या जब आपकी आँख बन्द होती है तो भी नज़र आपके पास होती है और जब खुलती है तो आपकी वही नजर होती है जो बन्द हुई आँख में थी।

चूँ यक दाना ख़ारो गुल आमद पदीद।
कुदाम अस्त आलाओ अदना कुजास्त॥
बरूने शुमा ओ दरूने शुमा।
बजुज जाते वालाओ यकता कुजास्त॥

"जिस तरह एक ही दाने से फूल और काँटे पैदा हो जाते हैं, फिर उनमे अच्छा बुरा कौन है, इसी तरह आपके अन्दर और बाहर सिवाय एक तत्व के और है ही कौन ?" यह तमाम जगत मय अपने पिता पितामह देश काल के उसी एक मे से जाहिर हो गया या उसने बिखर कर यह तमाम शक्लें बना लीं, तो फिर वही वह हुआ, दूसरा आया कहाँ से ? अब उसमें असत् तत्व कौन-सा है कि जिसका हमको त्याग करना है। वह यह है—वह तत्व केवल इतना है कि जो हम उस तत्व को भूल कर एक नया कल्पित या सत् तत्व उस अनेकता का बना बैठे हैं, केवल उसी को छोड़ना है। कोई इस बात को जाने या न जाने, देख तो उसी को रहा है इसमे सन्देह नहीं। उसको देखता हुआ जो यह समझता है कि वह गैर को देख रहा है यही ग़लती और दुःख का मूल कारण है।

वह प्रभु बिखरे और सृष्टि बन गई, या जगत कहाँ से आया ?

उन्हीं में से और कहाँ से। उनका गैर वन कर या वही वन कर? नामरूप में तो प्रभु के उस रूप से भिन्न वनकर ही आया, जिस रूप के वाद यह संसार वना, लेकिन चूँकि उन्हीं का है, उन्हीं से है इसलिए उनसे अलहदा नहीं।

अगर कोई कहे कि नहीं, अनन्त मे सीमित देखना वनता नहीं और अगर हम इसको मान भी लें तो यह कहना पड़ता है कि यह सब कुछ उसी अनन्त के सङ्कल्प का नतीजा है, जो सारे जगत की उत्पति बगैर देश काल के कर देता है जिस तरह आप और आपका सङ्कल्प दो चीजें नहीं इसी तरह प्रभु और उनका सङ्कल्प यह जगत है।

प्रश्न—अनन्त में सङ्कल्प नहीं होना चाहिए?

उत्तर—क्या अनन्त जड़ है जो सङ्कल्प न हो?

प्रश्न—वह सृष्टि क्यों बनाता है?

उत्तर—आप को यह पूछने का हक ही क्या है? आप यह क्यों पूछते हैं कि वह दुनिया को क्यों बनाता है? हमारा दिल चाहता है, इसी तरह उसका भी दिल चाहता है कि वह सृष्टि को बनाये। वह किसी के मातहत हो कर कुछ नहीं करता और न कुछ करने के वाद किसी के मातहत होता है। यह उसकी लीला है कि कभी एक से अनेक बन जाता है कभी अनेक से एक और कभी एक और अनेक भी नहीं रहता।

प्रश्न—क्या वह सृष्टि वनाकर महदूद (सीमित) नहीं हो जाता?

उत्तर—वह सीमित तो तब हो जब किसी और को साथ ले आये, वह तो ख़ुद ही ऐसा करता है।

प्रश्न—वह तो निराकार और सूक्ष्म है और यह जगत साकार और स्थूल है। यह देखिए पत्थर कितना सख़्त है।

उत्तर—'यह साकार है और स्थूल है' यह आप के ज्ञान का एक दर्जा है और 'वह सूक्ष्म है और निराकार है' यह दूसरा दर्जा है। जिस तरह आप स्वप्न में स्थूलता और साकारता को अनुभव करते हैं और वह स्थूलता और साकारता उस स्वप्न दृष्टि तक सत् होती है उसी तरह यह जगत की स्थूलता और साकारता इसी मन्द दृष्टि तक है, असली जागृत में नहीं, और अगर कुछ स्थूलता और साकारता है भी तो उसकी अपनी बनाई है। वह सर्व-शक्तिमान इसीलिए तो है कि जो चाहे कर लेता है।

प्रश्न—वह शून्य से जगत को पैदा करता है?

उत्तर—नहीं। क्या वह और उसका सङ्कल्प ख़ुद शून्य है? जब नहीं, तो वह शून्य से क्यों पैदा करता है।

प्रश्न—क्या जगत का उपादान कारण वह आप है?

उत्तर—दूसरा जब है ही नहीं तो दूसरा निमित्त या उपादान कारण बन कहाँ से जायगा! वह है और उसकी लीला।

प्रश्न—लेकिन यह हम लोग और हमारा अज्ञान कहाँ से आ गया?

उत्तर—वहीं से, जहाँ से सब कुछ आया है।

प्रश्न—तो क्या ज्ञान स्वरूप मे अज्ञान भी हो सकता है ?

उत्तर—जब उसमे सब कुछ है तो फिर अज्ञान की बात ही क्या रही ? और अज्ञान का होना भी तो उसका एक ज्ञान या उसके ज्ञान-स्वरूप होने का प्रमाण है। क्योंकि वह जानता है कि अगर अज्ञान न होगा तो ज्ञान का पता ही न चलेगा। आप में अज्ञान डाला इसीलिए तो आज इतनी बातें कर रहे हैं और पूछ रहे हैं। आप मे यह धुन है कि कब आपको असली तत्व का ज्ञान हो। सच कहिए कि जब आपको इस अज्ञान के बाद उस ज्ञानस्वरूप प्रभु का पता चलेगा तो आपको कितनी ख़ुशी होगी। इसलिए उसके ज्ञानस्वरूप होने ही ने तो यह आप में भूल डाली है ताकि इसके बाद आप उसके मिलने और जानने के आनन्द को ले सकें। उसके बाहर कुछ नहीं, इसलिए वह सब कुछ ठीक बना रहा है।

अब उसने सृष्टि बना कर अपनी लामहदूदियत अपरिच्छिन्नता न खोई, खुद वैसे का वैसा ही रहा और जगत भी बना लिया। जिस तरह आपकी सोई नजर स्वप्न सृष्टि को सत् बना लेती है उसी तरह प्रभु की माया या शक्ति ने जो कुछ हमको दिखाया उसको सत् बना कर दिखा दिया और इस खेल मे यह बताया कि आप उस तत्व को जानने की कोशिश करें, जो सत् है। और सत् के जानने के लिए उसी सत् ने अपनी सत् शक्ति द्वारा इस असत् जगत को सामने रख दिया और कह दिया कि दो पदार्थ हैं—एक सत् और दूसरा असत्; एक असीमित, दूसरा

सीमित; एक अविकारी दूसरा विकारी, एक नाश से रहित, दूसरा नाशवान; एक सुख का भण्डार और दूसरा असत् जड़ दुःखरूप। यह हैरान होने की बात नहीं कि उसने यह सब कुछ कहाँ से और कैसे ला रखा है। यह उसकी मामूली शक्ति का चमत्कार है। और जो स्थूलता और साकारता आपको हैरान कर रही है वह ज्ञान के एक दर्जे की हालत है। वही चीज ज्ञान के दूसरे दर्जे में सूक्ष्म और निराकार बन जाती है। यह अनुभव की बात है इसलिए इस बात को यों फैसला कर लीजिए कि वह सर्व-शक्तिमान है और उसने इस जगत को बनाया अपनी माया से, और दो पदार्थ क़ायम कर दिये—एक सत् दूसरा असत्। अब सत् वह खुद आप है और असत् यह जगत है जो कि असत् जड़ और दुखरूप है और वह है सच्चिदानन्द। इसलिए वेदान्त का कहना है कि आपका प्रश्न किसमें है—सत् में या असत् जगत में? जब आपको यह मालूम हो जायगा कि यह सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है तो ग़ैर न रहेगा। इसलिए इच्छा फिर भी मिट जायगी। इसलिए **इच्छा के अभाव का बड़ा तरीक़ा यह है कि या तो सब में भगवान को देखे या सब को असत्, जड़ और दुःखरूप जान कर उसका त्याग कर दे।**

मन को रोकने का तरीक़ा

मुझसे किसी ने पूछा कि मन कैसे रोका जाय तो मैंने कहा कि मन को रोकने का पहला दर्जा तो यह है कि मुस्तक़िल मिज़ाज

(धीरज वाला) हो। अगर मन की गति एक मुद्दत तक क़ाबू में न आवे तो घबराये नहीं, बल्कि यह ख्याल करे कि जिस कदर जल्द मन काबू में आ जायगा उसी कदर जल्द यह खेल काबू करने का ख़त्म हो जायगा। जिधर आपका मन दौड़ता है उसमें आप नुक्स, कमियाँ और त्रुटियाँ देखने की कोशिश करें। जिस तरह आपको सख्त भूख लगी हो और आप से कोई आकर कहे कि यह है खाना, खा लीजिए और साथ ही आपको कोई आकर कह दे कि यह खाना अत्यन्त अपवित्रता से बना है, तो आपकी सख्त भूख उस वक्त घृणा की शक्ल में बदल जायगी और आप उस ख़ाने से परहेज़ करने लगेंगे।

अगर आपको दूर कहीं चाँदी नज़र आ रही है, और आप वहाँ जाकर देखें कि वह चाँदी न थी, सीपी की झूठी झलक थी, तो फिर दूर आने पर उसमें चाँदी देख कर भी उसमें आकर्षण नहीं रहता। अगर एक आदमी आप को पैसा दे रहा हो, आप उसको लेकर चने खाने को तैयार हों और उसी वक्त कोई आकर आपसे कह दे कि आपकी जेब में यह लाख रुपये के जवाहरात किसने डाल दिये हैं; तो फिर उस बात को सुन कर आपके मन मे यह भाव ही कहाँ आ सकता है कि आप उस पैसे वाले के पीछे जावे।

एक और उपाय मन को रोकने का यह भी है कि अगर एक जगह पर आप चल कर नहीं पहुँच सकते, तो आप सवारी में

बैठ कर वहाँ जा सकते है। इसी तरह अगर आप का मन आपके हाथ में किसी तरह न आ सकता हो तो फिर आप उनकी नज़दीकी करें जिन्होंने पहले अपने मन को अपने हाथ मे ले रखा है।

वेदान्त का सिद्धान्त है कि या तो आपके सामने ब्रह्म ही ब्रह्म है, कि जो नित्य प्राप्त है और या भ्रम ही भ्रम है। आकर्षण दोनों तरह से जाता रहा—पहले में नित्य प्राप्ति के कारण और दूसरे मे भ्रम के कारण। इसलिए संसार का आकर्षण ही जब कुछ मानी नहीं रखता तो फिर इच्छा को स्थान कहाँ मिल सकता है ? नित्य प्राप्ति मे तो इच्छा बनती नहीं और असत् पदार्थ को जान लेने पर उसकी इच्छा ग़ायब हो जाती है।

और दूसरे, संसार के पदार्थों की इच्छा भी तो शान्ति ही के लिए होती है। अगर यह मालूम हो जावे कि इच्छा करना ही शान्ति को दूर करना है, तो फिर मनुष्य इच्छा करना ही क्यों न छोड़ देगा; क्योंकि जिस चीज़ को वह इच्छा करने के वाद पाना चाहता है उसी को अपनी इच्छा से खो रहा है। दिल मे आई शान्ति की इच्छा कि वह पदार्थ मुझे मिल जावे तो शान्ति मिल जावेगी, लेकिन हम पूछते हैं कि जब तक यह इच्छा पैदा न हुई थी उस वक़्त तक क्या था—शान्ति या अशान्ति ? अशान्ति तो कह नहीं सकते; अशान्ति तो उस अवस्था का नाम है जो चित्तवृत्तियों या इच्छाओं के प्रतिकूल अवस्था हो।

और जब इच्छा ही नहीं थी, तो उसकी प्रतिकूलता भी न थी। इसलिए पहले अशान्ति तो हो नहीं सकती। अगर कोई कहे कि नहीं, पहले इच्छा के न होने पर भी अशान्ति ही थी, क्योंकि वहाँ क्रिया रहित मनुष्य पड़ा था और वह एक सुस्ती की हालत थी या dull प्रभाव था। इसलिए यह ग़लत है कि इच्छा की प्रतिकूलता का नाम ही अशान्ति है। देखिए, वहाँ कोई इच्छा ही न थी फिर भी अशान्ति थी?

उत्तर—यह गलत है। अगर इच्छा के अभाव पर, जिसको कि आप इच्छा का अभाव कह रहे हैं, वहाँ अशान्ति थी तो यह ग़लत है क्योंकि मेरे सिद्धान्त में इच्छा की प्रतिकूलता अशान्ति है। इच्छा से पहली अवस्था का नाम जो आपने अशान्ति रक्खा है वह गलत है, क्योंकि जिस तरह और जिस जगह आप इच्छा का अभाव बता रहे हैं वैसी अवस्था मे तो इच्छा वहाँ सूक्ष्मरूप में मौजूद है वरना वहाँ अशान्ति हरगिज न होती, क्योंकि जो उस अपनी अवस्था को इच्छा का अभाव वतला कर भी अशान्त, सुस्त और dull बता रहा है उसका मतलब यह है कि वह अपनी उस अवस्था मे प्रसन्न नहीं है क्योंकि वह उसमें सुस्ती, काहली और dullness को अनुभव कर रहा है जिसका मतलब यह है कि वह उस अवस्था की इच्छा कर रहा है कि जो कुछ चुस्त, चालाक और active हो। इसके तो यह माने हुए कि वह अवस्था इच्छा से रहित नहीं है इसलिए उसका प्रतिकूल है। पस जव प्रतिकूल है तो फिर अशान्ति

क्यों न हो ! अगर आप कहें कि नहीं, स्वभावतः वह अशान्त है तो हम कहेंगे कि फिर स्वभावत. अपने प्रतिकूल को अनुभव कर रही है अगर उसका प्रतिकूल न होता तो वह अशान्त न होती।

अगर आप कहें कि नहीं, इच्छा से पहले शान्ति थी तो फिर हम पूछते हैं कि फिर इच्छा शान्ति के लिए की गई है या अशान्ति के लिए ? अगर शान्ति के लिए, तो शान्ति तो पहले ही थी; और अगर अशान्ति के लिए, तो क्या पहली शान्ति में अशान्ति पैदा हो गई थी ? अगर अशान्ति पैदा हो गई थी तो अशान्ति ही आपके लिए प्राप्त वस्तु हो गई, फिर अशान्ति के लिए भी इच्छा क्यों कर हुई ? सच बात तो यह है कि अशान्ति के लिए कोई मनुष्य इच्छा करता ही नहीं।

'इच्छा से पहले शान्ति थी' जब यह सिद्धान्त क़ायम हो गया तो फिर इच्छा किस लिए पैदा हो ?

प्रश्न—तो क्या आपका मतलब यह है कि मनुष्य dull (जड़) बन जाये और कुछ करे ही नहीं ?

उत्तर—यह मैंने कब कहा है ? प्रश्न तो इच्छा का है न कि कर्म का। अगर आप कहें कि शान्ति मनुष्य को जड़ और मूक बना देगी तो उसका उत्तर यह है कि अगर ऐसी शान्ति जड़ता से और मूक बनने से मिलती है तो मुबारक है; क्योंकि चेतना, स्फूर्ति और बोलना भी तो शान्ति ही के लिए है, यहाँ तक

कि मोक्ष, समाधि वगैरह की कुल अवस्थाएँ शान्ति के लिए है। लेकिन यह बात ग़लत है कि शान्त पुरुष जड़ हो जाता है, क्योंकि जो पुरुष शान्त होगा उसकी प्रकृति भी अशान्त नहीं हो सकती। इसलिए उसकी शक्ति (energy) या प्रकृति को तो कुछ काम करना ही है, वह करेगी ही, किसी तरह रुक नही सकती, बल्कि उन पुरुषों से ज़्यादा अच्छा करेगी कि जो अशान्त होकर काम कर रहे हैं। यह नियम है कि जब दिल मे कोई फ़िक्र पैदा हो जाती है तो मनुष्य की तमाम शक्तियाँ हिल जाती हैं और वह घबरा जाता है, फिर वह कोई काम ठीक नहीं कर सकता। आप चलती गाड़ी में बैठ कर अपना मजमून या ख़त साफ़ और उतना सुन्दर नहीं लिख सकते जितना आप शान्त और न हिलते हुए घर मे बैठ कर लिख सकते हैं। प्रकृति को अपना काम करना है और वह करेगी ही, उसमें आप की इच्छा और अनिच्छा का क्या ताल्लुक़ है? जिस तरह हवा चलती है, सूरज रोशनी देता है, चाँद चमकता है, दिन-रात बदलते हैं, उसी तरह मनुष्य की क्रियाएँ हो जाती हैं। वे जड़ होकर अपना काम करती हैं और यह चेतन होकर ईश्वरीय संकल्प के अनुसार अपना काम करता है।

उसके सामने अनुकूल और प्रतिकूल नही रहता और ईश्वर के सामने आ ही नही सकता, क्योंकि उसने तो अपनी इच्छा को मिटाकर प्रतिकूलता को मिटा दिया है। और ईश्वर के सामने प्रतिकूल इसलिए नही है कि प्रतिकूलता और अनुकूलता उसी

की इच्छा से बनी हैं, उसको मुख़ालफ़त का पता इसलिए नहीं चलता कि उसके साथ दूसरा है नहीं कि जिसको उसके कामों में दख़ल देना है या जिसे उस संसार रूपी स्कीम (Scheme) को दुरुस्त करना या ग़लत कहना है।

जीव अपनी इच्छा को इसलिए छोड़ देता है कि पहले ईश्वरीय इच्छा अपना काम कर रही है उसकी हुकूमत में मुझको दख़ल देने की हिम्मत नही; और फिर जिस शान्ति के लिए इच्छा करता है वह उस इच्छा से ग़ायब होती नज़र आती है।

हाँ, एक इच्छा ज्ञानी के मन में होती है और वह यह कि वह ईश्वरेच्छा के मुताबिक़ चलता रहे। अगर उस इच्छा के प्रतिकूल कुछ हो तो वह ज़रूर दुखी होता है, लेकिन कुछ आगे जा कर वह इस ख्याल को भी छोड़ देता है, क्योंकि वह जानता है कि उसकी अपनी इच्छा अब ईश्वरीय इच्छा के प्रतिकूल जा ही नहीं सकती। इसलिए जो होता है उसको वह ईश्वरीय इच्छा समझता है और जो ईश्वरीय इच्छा होती है उससे उसको प्रतिकूलता का ख्याल स्वप्न में भी नहीं आ सकता। इसलिए इसका अपना प्रतिकूल भी उड़ जाता है, और वह शान्त हो जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि जो स्वभाववश वह क्रियाएँ करता है उसके प्रतिकूल संसार में पैदा हो जाते हैं लेकिन वह घबराता नहीं क्योंकि उस प्रतिकूलता को भी वह अनुकूलता ख्याल करता है, इसलिए कि वह प्रनिकूलता उसके सामने उसके मालिक की इच्छा से

आई है अगर्चे ज़ाहरी हालत में वह उसकी मुख़ालफ़त करता रहेगा, क्योंकि ईश्वर ही उसके अन्दर उसके पार्ट को उस प्रतिकूल अवस्था के ख़िलाफ़ चलाना चाहता है, लेकिन यह प्रतिकूल को सामने रखता हुआ भी प्रतिकूलता को प्रतिकूल नहीं समझता, क्योंकि यह जानता है कि यह प्रतिकूल नाममात्र को है वास्तव में तो इसके प्रभु प्रीतम की इच्छा है। इस तरह ज्ञानी अपनी इच्छा का अभाव कर बैठता है, और इस तरह अपने शत्रु काम को जीत लेता है।

I am convinced there is no condition higher than that silence which comes of the abandonment of all latent desires

मुझे यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि उस अवस्था से बड़ी और कोई अवस्था नहीं, जो तमाम इच्छाओं के अत्यन्त अभाव पर मिलती है।

जुज़ ईं कि महव कुनम अज़ दिल आरज़ूहा रा।
न मांँदा अस्त मरा दर दिल आरज़ूए दिगर॥

अर्थात्—सिवाय इसके कि मैं आम इच्छाओं को दिल की तख़्ती से साफ़ कर दूँ, मेरे अन्दर दूसरी इच्छा ही नहीं रही है?

प्रश्न—लेकिन यह भी तो इच्छा है कि आप अपने दिल की तख़्ती से सब कुछ साफ़ करें?

उत्तर—लेकिन यह इच्छा तो उस समय तक है कि जब तक और इच्छाएँ भी बाकी हैं। जब यह इच्छा पैदा हुई कि बाकी

इच्छाएँ न रहें तो दिल में साहस पैदा हो गया कि अब उनको मिटाये बग़ैर न रहेंगे, और जब ये इच्छाएँ गईं तो उनको मिटाने की इच्छा तो ख़ुद ही चली जायगी।

एक समय मुझ से किसी ने पूछा कि महाराज, जब कुल इच्छाओं का अत्यन्त अभाव ही मोक्ष है तो फिर ईश्वरीय इच्छा करना भी तो बन्धन ही होगा? मैंने कहा, ठीक है, लेकिन भेद इतना है कि जब आप के पाँव में काँटा चुभता है तो आप उसको निकालने के लिए दूसरा काँटा लेते हैं; लेकिन जब पाँव का काँटा निकल गया तो हाथ का काँटा बेकार हो गया। इसी तरह जिस मन में बेइन्तहा इच्छाएँ अपना काम कर रही हैं उनको निकालने के लिए ईश्वर-दर्शन की इच्छा ज़रूरी है। जब यह पैदा हुई, बाक़ी इच्छाएँ जाती रहीं और इस इच्छा का यह प्रभाव हुआ कि ईश्वर की समीपता और दर्शन हुए, और जब यह समीपता मिली तो यह इच्छा भी ग़ायब हो गई।

इसलिए जब तक सांसारिक इच्छाएँ मन में हैं उस समय तक ईश्वर की इच्छा का होना ज़रूरी है और जब यह इच्छा मन में आ जायगी बाकी इच्छाएँ भाग निकलेंगी, और जब मन में कोई इच्छा न रहेगी तो भगवान के दर्शन होंगे; और जब दर्शन होंगे तो दर्शन की इच्छा भी उड़ जायगी।

मेरा सिद्धान्त है—इच्छा के परदे में शान्ति। जब इच्छाओं का अभाव हुआ चित्त शान्त हो गया। योग भी यही है कि चित्तवृत्तियों का शान्त हो जाना या रुक जाना। जब इच्छा ही

कोई नहीं तो फिर अशान्ति कैसी ? जब अशान्ति नहीं तो विक्षेप कैसा ? और जब विक्षेप नहीं तो चित्त-वृत्तियों का निरोध आप ही हो गया। ईश्वर-दर्शन की इच्छा सविकल्प समाधि है और इस इच्छा का भी अन्त में मिट जाना निर्विकल्प समाधि है।

चाह गई चिन्ता गई मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछु ना चाहिए सो शाहनपति शाह ॥

प्रश्न—शान्त अवस्था में इच्छा क्यों पैदा हो जाती है ?

उत्तर—अशान्ति के बाद यह बताने के लिए कि शान्ति इच्छा से पहले ही थी और जब एक दफा यह मालूम हो जाता है तो फिर शान्त अवस्था मे इच्छा पैदा नहीं होती।

प्रश्न—लेकिन पहले भी ऐसा क्यों होता है ?

उत्तर—इसको जानने की जरूरत क्या है, क्योंकि इसका उत्तर उस शान्त अवस्था की छान-बीन से मिल सकता है जिसमें अभी इच्छा पैदा नहीं हुई और वहाँ हम इसलिए पहुँच नहीं सकते क्योंकि वह इच्छा के उत्पन्न होने से जाती रही है, जो इच्छा के अभाव पर शान्त अवस्था होगी उसमें छान-बीन हो नहीं सकती क्योंकि वहाँ तो इच्छाओं का अत्यन्त अभाव पहले ही हो चुका है, इसलिए इस बात को जानने की कोशिश न करो कि उसमे इच्छा क्यों पैदा हुई। सिर्फ इतना काफी है कि इच्छा क्योंकर मिटे और फिर शान्त अवस्था कैसे आवे।

प्रश्न—इच्छा तो ईश्वर में भी है, फिर वह अशान्त क्यो नहीं है ?

उत्तर—उसकी इच्छा उसके अधीन है। उसे अपनी इच्छा के सामान ख़ुद पैदा करने हैं और जो सामान पैदा करने हैं वह सब उसके पास हैं। इसलिए उसकी इच्छा अनिच्छा के बराबर है। वह अपनी इच्छा का प्रतिकूल कभी देखता नही क्योंकि दूसरा उसके साथ नहीं; बल्कि वह अनुकूल भी नहीं देखता क्योंकि उसकी इच्छा के साथ ही सामान तैयार होता है। इसलिए उसको यह फ़ुरसत ही कहाँ मिलती है कि वह इच्छा के बाद सामान पैदा होता देख कर अनुकूलता को अनुभव करे। इच्छा उसको कहते हैं जिसके अनुकूल और प्रतिकूल कोई हो। जहाँ इच्छा का अनुकूल और प्रतिकूल कोई नहीं वह इच्छा होती हुई भी इच्छा नहीं है। इसलिए ईश्वरीय इच्छा बन्धन का कारण नहीं है।

प्रश्न—तो क्या हमको ईश्वरीय इच्छा ने बाँध रखा है ? ऐसा उसने क्यों किया—हमें कैद कर दिया ?

उत्तर—उसने तो बाँधा था लेकिन बँधे तुम आप, उसने तुमको कुछ बनाया और तुम क़ैद हो गये; क्योंकि अगर ईश्वरीय इच्छा के साथ तुम अपनी इच्छा पैदा न करते तो तुमको बन्धन और कैद का अनुभव ही क्यों होता ? बन्धन और क़ैद के हकदार तो तुम तब हो गये कि जब तुमने अपनी इच्छा को उसकी इच्छा के ख़िलाफ पैदा कर दिया। 'उसने बाँधा है' यह आपने क्यों

जाना ? सिर्फ़ इसलिए कि आप और तरह रहना चाहते थे ! कैद तो इसलिए जाना कि हमने अपनी आज़ादी कुछ और समझी है ! प्रभु पूर्ण हैं, वह इच्छा करते भी निरिच्छा ही रहते हैं, कर्म करते भी नहीं करते। इसी तरह जो उनकी इच्छा से मिल कर अपनी इच्छा का त्याग करता है वह भी शान्त हो जाता है।

इस भाव के जानने वाले को भी सांसारिक पदार्थों में आकर्षण नहीं रहता क्योंकि जो उसके लिए ज़रूरी है वह ईश्वरी इच्छा से उसे नित्य प्राप्त है और जो प्राप्त नही है वह जरूरी नहीं है। इसलिए गैर जरूरी चीज की इच्छा करना भी तो गैर जरूरी वात है। इसलिए सांसारिक आकर्षण उसके मन से जाता रहता है। जब आकर्षण गया तो इच्छा गई, इच्छा से प्रतिकूलता गई, और उससे शान्ति की प्राप्ति हुई। इच्छाओं का चक्कर एक दफ़ा तो मन पर चल ही चुका है, अब उसको ख़त्म करना है।

अब अगर बाहर केवल भगवान ही हैं तो आकर्षण भगवान का हुआ, संसार का सम्बन्ध ही जाता रहा, और अगर बाहर असत् ही असत् है तो फिर भी आकर्षण कैसे रहा ! अगर वाहर प्रकृति है और वह अपने आनन्द गुण को ईश्वर से ले रही है तो भी आकर्षण संसार में न रहा।

एक मत के लोग कहते हैं कि नित्य पदार्थ तीन हैं—ईश्वर, प्रकृति और जीव। प्रकृति केवल सत् है; जीव सत्+चित् है और ईश्वर सत्+चित्+आनन्द है। ये तीनों पदार्थों को अनादि

मानते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार भी आनन्द गुण न तो जीव का है और न प्रकृति का, बल्कि ईश्वर का है। इसलिए जो आनन्द प्रकृति में नज़र आता है वह तो ईश्वर का हुआ, इस तरह भी आकर्षण पदार्थों में कहाँ रहा ?

चौथा सिद्धान्त केवल जड़ प्रकृति को मानता है। वह कहता है कि संसार में ईश्वर कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और जीव भी प्रकृति का विकार है। हम उनके सिद्धान्त को किसी और तरह न देखते हुए इतना पूछते हैं कि क्या आनन्द जड़ प्रकृति मे है या उसके अन्दर से निकलता है ? अगर वह कहते हैं कि जड़ प्रकृति मे हैं तो हम पूछते हैं कि आप picture देख रहे हैं, फिल्म चल रहा है और पर्दे पर तसवीरें दौड़ रही हैं। आप कहते हैं यह सुन्दर हैं, अति सुन्दर है और आप कह रहे हैं, देखिए आज का फ़िल्म कितना आकर्षक (interesting) और आनन्ददायक है। दिल खुश हो रहा है, उछल रहा है और यह सिद्धान्त निश्चित हुआ जा रहा है कि आनन्द केवल जड़ प्रकृति मे है। अगर न होता तो आज इस फिल्म मे किस तरह नज़र आता ? लेकिन अभी फ़िल्म आधा भी चलने नही पाया कि वाहर से नौकर तार लिये आ गया और पूछा कि बाबू जी कहाँ है ? चपरासी ने टार्च हाथ मे लेकर बाबूजी को ढुंढ़वाया। बाबूजी पूछते हैं क्या है ? जवाब दिया तार है। बाबूजी का दिल आधा धड़क गया, लेकिन फिर ख्याल आया कि शायद यह कोई खुशी का तार हो; पहले ही फैसला क्यों कर लिया। उस आदमी को रोका, चपरासी ठहरा। एक तरफ़ को होकर तार पकड़ा।

क्या देखते हैं कि उसमें लिखा है—Your friend seriously ill (तुम्हारा मित्र सख्त बीमार है)। बस फिर क्या था; हाथ थर्रा गये, तार नीचे गिर पड़ा और चपरासी के कन्धे पर हाथ धर दिया। दूसरी तरफ से आवाज़ आई—'आओ, जल्दी आओ, फिल्म का निहायत अच्छा पार्ट तो अब आया है!' लेकिन यहाँ .फुर्सत ही कहाँ है कि किसी की आवाज़ को सुने! कुछ घबराकर बाहर को चलने लगे। दूसरे दोस्त ने हाथ पकड़ लिया—'कहाँ जा रहे हो, क्या हुआ? देखते हो कितनी अच्छी तस्वीर है। अभी आप भी तो कह रहे थे कि फिल्म निहायत अच्छा है।' लेकिन बाबूजी के हवास फ़ाख़्ता हो रहे हैं। जब उनकी इस हालत को देखा तो दोस्त ने पूछा—'आख़िर क्या हुआ, ख़ैर तो है? इस तरह उदास क्यों हो गये और फिल्म की तरफ नजर उठा कर भी नहीं देखते?' उन्होंने कहा—'क्या पूछते हो, तुम्हें मालूम है कि फलाँ आदमी मेरा दोस्त है और वह मुझे अपने से भी ज्यादा प्यारा है?' उन्हों ने कहा—'हाँ-हाँ, क्यों नहीं,आख़िर हुआ क्या?' जवाब दिया कि वह सख़्त बीमार है। मेरा दिल हिल गया है।' उनकी यह बात सुनकर उस दोस्त ने कह दिया—'जाने भी दो, ज़रा इस सिनेमा को तो देख लो, दिल बहल जायगा। मैं तुमसे सच कहता हूँ, बड़ा ही आनन्ददायक और Interesting फिल्म है।' बाबूजी (झुँझलाकर)—'छोड़ो भी, क्या बातें कर रहे हो! तुम्हें मालूम होना चाहिए कि यह फिल्म अब मुझको अत्यन्त दुख-दायी प्रतीत हो रहा है।' उसने पूछा—'यह क्यों?' जवाब दिया

'मेरा दिल हिल गया है इसलिए यह मुझे अच्छा कैसे लग सकता है ?'

अब ज़रा देखिए, फिल्म तो अब भी वही है बल्कि पहले से भी अच्छा है, लेकिन बाबू जी का दिल हिल जाने से उसमें से आनन्द का वह तमाम आकर्षण जाता रहा और फिल्म और उसकी तमाम ख़ूबियाँ नीरस हो गईं। अगर फिल्म मे आनन्द था तो अब भी उनको मिलना चाहिए था। नहीं, बात यह थी कि पहले चित्त मे कोई क्षोभ न होने के कारण फिल्म बाबू साहब के अन्दर के आनन्द को फिल्म के शीशे में दिखा रहा था और बाबू जी को यह ज्ञान हो रहा था कि आनन्द फिल्म से आ रहा है लेकिन जब उनकी चित्त-वृत्तियों मे क्षोभ पैदा हुआ तो वह आनन्द क्षोभ की लहरों में गुम हो गया इसलिए फिल्म के शीशे मे अपने अन्दर के आनन्द का प्रतिबिम्ब कैसे नज़र आता ? पस सिद्धान्त यही स्थिर हुआ कि आनन्द जड़ प्रकृति मे नहीं है बल्कि अन्दर—चित्त की वृत्तियों के निरोध में है।

आप कह सकते हैं कि नहीं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच वस्तुओं मे आनन्द है। आप कैसे कहते हैं कि आनन्द इनमें नहीं ? अगर इनमें आनन्द न होता तो मनुष्य कभी इनकी तरफ न दौड़ता। इसका उत्तर यह है कि 'अगर इनमे आनन्द न होता तो मनुष्य इनकी तरफ कभी न दौड़ता' यह बात तो तब ठीक होती जब यह भी ठीक होता कि अगर जल मृग-तृष्णा के जल मे न होता तो मनुष्य कभी उसकी तरफ़ न दौड़ता। हालाँकि देखने

में आता है कि मनुष्य को अक्सर मृगतृष्णा के जल मे जल का भान होता है या सीपी में चाँदी का भ्रम होता है।

तो आहुए खुतनी मुश्क जोई अज़ सेहरा।
ज नाफ़े खेश खबर न दारी खता ईं जास्त॥

तू खुतन (एक देश का नाम) का रहनेवाला मृग (हिरन) है, नाफ़ा-कस्तूरी तेरे पास है लेकिन तुझको उसका पता नहीं इसलिए तू उसके पीछे दौड़ता फिरता है और जङ्गलों में मारा-मारा ढूँढ़ता है। जब तेरी ख़ुशबू के चन्द परमाणु किसी कारणवश किसी झाड़ी की पत्तियों से लिपट जाते हैं या हवा तेरे उन सुगन्धि भरे परमाणुओं को किसी वृक्ष की पत्तियों से लपेट देती है तो तू उसको सूँघ कर अनुभव करता है कि ख़ुशबू उन पत्तियों में से आ रही है। लेकिन यह गलत है—भ्रम है। इसी तरह मनुष्य को जो सुख इन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध मे प्रतीत होता है वह इसके आन्तरिक सुख का प्रतिविम्ब होता है, लेकिन इसको अनुभव ऐसा होता है कि सुख इन चीजों में है।

दूसरे, देखने में आता है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के दो हिस्से हैं—एक इन्द्रियों के अनुकूल, दूसरा स्वभावत. प्रतिकूल। इसलिए इनका आधा हिस्सा तो आकर्षण रखता ही नही, अब रहा दूसरा आधा, वह भी वेहद परिणामी है। बुख़ार होने पर मिश्री भी कड़वी लगने लगती है, कान दुखने पर राग अच्छे नहीं लगते, आँख ख़राब होने पर प्रकाश बुरा लगता है, त्वचा मे

ख़राबी हो तो रेशम के छूने से भी उसकी कोमलता का सुख नहीं मिलता, और .ज़ुकाम होने पर ख़ुशबू नहीं आती; इसलिए मालूम होता है कि जो आधा हिस्सा सुख का बाह्य संसार में शब्द, स्पर्श आदि की शक्ल में नज़र आता है वह भी स्वतन्त्र नहीं है; वह भी हमारी इन्द्रियों की दुरुस्ती पर निर्भर है। गोया आधा हिस्सा भी परतन्त्र ठहरा ! अब वह अल्प-सा भाग जो सुख का इन भोगों में नज़र आता भी है उसमें और कई कष्ट मौजूद हैं।

अव्वल तो इनकी इच्छा में अप्राप्ति का कष्ट है, दूसरे इनकी प्राप्ति में इनके जाने का भय, तीसरे, जाने में चले जाने का दुःख है। फिर संसार में जो अल्प-सा सुख पदार्थों की शक्ल में है उसके चाहने वाले अनेक लोग हैं ! जब हम उस सुख को लेने की कोशिश करते हैं तो बाकी उसके चाहनेवाले हमारे शत्रु बन जाते हैं और हमको अपने इरादों में कामयाब होने नहीं देते। वह भी मजबूर हैं क्योंकि जिस तरह हमको वह सुख अच्छा लगता है उसी तरह दूसरों को भी अच्छा लगता है। पस जब हम उसको पाने की कोशिश करते हैं तो दूसरे डरते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि यह ले जाय तो हम क्या करेंगे। अब बैर-विरोध, ईर्षा-लालच, लड़ाई-झगड़े, फ़िसाद, मक्कारियाँ-चालबाज़ियाँ, धोखे-फरेब आदि सब शुरू हो जाते हैं और मनुष्य के प्राण हर समय खतरे में रहते हैं। अव्वल तो इतनी बड़ी दुनिया में इतने .ज्यादा लोगों में सुख का बड़ा हिस्सा लेना ही बहुत मुश्किल है और अगर कोई किसी तरह ले भी ले तो वह उसको मारे डर के भोग ही नहीं सकता।

गोया इनकी अप्राप्ति में तो कष्ट है ही, लेकिन प्राप्ति में एक भय का बड़ा हिस्सा उसके तमाम सुख को खराब कर देता है और फिर सुख को बाहर ढूँढ़ने से मनुष्य की पूर्णता में फर्क आता है कि वह तभी तो सुख को बाहर ढूँढ़ रहा है जब कि वह उसके अन्दर नहीं है और बाहर ढूँढ़ने का ख्याल बाहर के सुख को देख कर ही पैदा होता है। और फिर देखिए, बाहर भी सुख का कोई स्थान हमें मुस्तक़िल और नित्य नज़र नहीं आता, क्योंकि जो पदार्थ आज हमें सुख देता है वह कल दु:ख देने लगता है, इसलिए बाहर सुख का कोई केन्द्र तो नज़र नहीं आता। आज कम्बल से सुख मिलता है, कल गर्मियों मे उसके उतारने से, आज रुपया सुख देता है, लेकिन जब डाकू आ जायँ तो उसका न होना ही सुख देता है; बाल-बच्चे जब मर्जी के मुताबिक चलें तो सुख देते हैं और जब कोई बद-नामी और दुःख का कारण बनें तो दु:खरूप हो जाते हैं। आज इज्जत ने सुख दिया, कल उस पर धब्बा लग गया, तो ख्याल आया कि इज्जत न होती तो आज इस पर धब्बा ही क्यों लगता। आज एक मकान बनाया तो वह बड़ा सुख दे रहा है, कल भूकम्प आया तो उसमें बैठे हुए उसकी बड़ी छतों को देखकर भय लगने लगा। आखिर संसार मे कोई पदार्थ ऐसा तो नज़र नहीं आता कि जिसमें पूर्ण सुख हो और हमेशा एक जैसा सुख मिलता रहे। यहाँ तक कि इस जीवन मे सुख तभी तक है, जब तक यह आराम दे रहा है। लेकिन जब इसने कष्ट दिया, बीमारी लग

गई तो मौत माँगने लगे; गोया जीवन भी कष्टरूप हो गया। स्वर्ग मिल गया लेकिन जब बड़े स्वर्ग को देखा तो उसका सुख भी जाता रहा या उसको यहाँ तक बरता कि उसकी इच्छा ही मन से उतर गई। कल एक सूट आपने सिलाया और उसको देख कर अत्यन्त हर्षित होने लगे, लेकिन तीसरे ही दिन वह तबियत से इस तरह मिल गया कि उसकी खुशी तो जाती रही और नये सूट की इच्छा पैदा हो गई। या तो पदार्थों मे सुख बदलता गया, वह पहले सुख के पदार्थ दुःख में परिणत होते गये, या उनको भोग-भोग कर उनका सुख जाता रहा। इसलिए स्पष्ट होता है कि सुख बाहर नहीं। जब एक ही समय में एक पदार्थ से सुख मिलता है और दूसरे समय मे नही तो फिर सुख उसमे किस तरह हुआ ? लेकिन आप कहेंगे कि सुख बाहर है तभी तो मिलता है; अगर न हो, तो मिले ही क्योंकर यह अलहदा बात है कि बदल जावे ? तो इसका जवाब यह है कि जिसको आप बाहर सुख कह रहे हैं वह बाहर है कहो ? अगर किसी एक चीज़ मे है तो फिर उसको वहीं रहना चाहिए। दृष्टान्त के तौर पर— आपको दूध की इच्छा हुई। आप ने उसे पिया। आपने कहा कि सुख इसमे है और आपने यह नियम या सिद्धान्त कर दिया कि सुख दूध मे है। लेकिन कल आपको अजीर्ण हो रहा है और वही दूध आपके सामने लाया जाता है तो आप उसको देखते तक नही और कहते हैं कि ले जाओ मेरे सामने से, मुझको यह ज़रा भी अच्छा नहीं लगता, मेरा तो इसकी शक्ल देखने को दिल नहीं

चाहता। इससे निश्चिव होता है कि सुख दूध में नहीं है और न ही किसी प्रकार का स्वाद। तो फिर सुख दूध में क्यों नज़र आया? और वह क्या था? मेरे ख़्याल में अन्दर की इच्छा की मुताबक़त या अनुकूलता का नाम सुख है। अगर ऐसा न होता तो किसी चीज़ को न चाहने पर उससे सुख मिलना चाहिए था।

किसी के प्रियतम को नरक में डाल कर भगवान् ने पूछा कि तुमको क्या चाहिए? उसने कहा कि मेरा प्रीतम। भगवान ने कहा—'वह तो नरक की जलती आग में पड़ा है, छोड़ो उसे, क्या करोगे? यह तो तुम्हारे सच्चे और निःस्वार्थ इन्द्रियों के भोगों से ऊपर प्रेम को देख कर मैं तुमसे प्रसन्न हो गया हूँ, इसलिए यह स्वर्ग तुमको दिया जाता है, जिसको लोग बड़े-बड़े तप के बाद हासिल करते हैं।' उस प्रेमी ने धन्यवाद देते हुए प्रार्थना की कि प्रभो! आप मुझे स्वर्ग देना चाहते हैं या नरक? प्रभु ने फरमाया—'स्वर्ग—नर्क क्यों?' तो उसने पूछा—'भगवन्! स्वर्ग किसको कहते हैं और यह आप मुझे क्यों दे रहे हैं?' तो भगवान् ने फरमाया कि हम तुम पर प्रसन्न हैं इसलिए स्वर्ग तुम्हें दिया जा रहा है और इसलिए देते हैं कि इसमे बड़ा सुख मिलता है। उसने कहा—'भगवन्! मुझे तो इस स्वर्ग में ज़रा भी सुख नहीं मिल रहा है। मेरा मन इसमे ज़रा भी नहीं लगता।' प्रभु ने मुस्करा कर पूछा—'वह क्यों?' तो उसने प्रार्थना की कि प्रभो! मेरा मन किसी में नहीं लगता।

मुझे अपनी इच्छा के अनुकूल कोई चीज़ यहाँ नहीं मिल रही है; क्योंकि जिसको मैं चाहता हूँ वह यहाँ है नही और जो यहाँ हैं उनको मैं चाहता नहीं; इसलिए यह स्वर्ग आराम के qualification या गुण को लेकर तो मेरे लिए स्वर्ग नहीं हो सकता, हाँ, अगर किसी और की दृष्टि से यह स्वर्ग है तो प्रभो, इसको लेकर वह ख़ुश होगा कि जो इसको चाहता है। यह मेरे लिए स्वर्ग नहीं हो सकता; इसलिए प्रभो, मुझे मेरा स्वर्ग दिया जावे।' भगवान ने हँस कर पूछा—'आख़िर वह स्वर्ग कौन-सा है जिसको तुम चाहते हो?' तो उसने कहा कि प्रभो! मेरा मन केवल एक ही मे लगता है और वह है मेरा प्रीतम कि जिसको देखकर मुझे आपकी याद आया करती है। अगर वह न मिले तो फिर मुझे कुछ नहीं मिला। भगवान ने कहा—'अच्छा, हम समझ गये; तुम उसको चाहते हो जो इस समय नरक की अग्नि में जल रहा है। उसको लेने के लिए तो तुम्हें नरक में जाना पड़ेगा क्योंकि इस समय मैं उसको यह स्वर्ग नहीं दे सकता।' प्रेमी ने कहा कि प्रभो! जल्दी कीजिए, मुझे वहीं स्वर्ग दे दीजिए जहाँ वह मेरा प्रीतम है। और लोगों को ही यह स्वर्ग मुबारक हो! भगवान ने कहा—'अरे, उसमें तो सिवाय दुःख के और कुछ है नहीं, फिर तुम उसको क्यों माँग रहे हो?' उसने कहा कि प्रभो! जब मैं अपने प्रीतम को देख लूँगा तो मुझको मेरा स्वर्ग मिल जायगा, क्योंकि वहाँ पर मुझको अपने चित्त की अनुकूलता मिलेगी और उसमे

जिस कदर मैं लीन हो जाऊँगा उसी कदर मुझको सुख मिलेगा। सुख की अधिकता मे मुझे दुःख का ज्ञान ही कहाँ हो सकता है? नरक तो मेरे ख्याल में दुःख का नाम है और स्वर्ग सुख का। इसलिए जब एक पुरुष एक समय सुखी हो तो फिर उसी समय वह दुखी नही हो सकता। जब मै अपने प्रीतम के दर्शन के सुख को अनुभव करूँगा तो नरक का दुःख मुझको लग ही नही सकता, इसलिए मुझको स्वर्ग ही स्वर्ग मिलेगा।' भगवान ने फरमाया—'तो स्वर्ग तुम उसको कहते हो जहाँ तुम्हारे चित्त की अनुकूलता मिल सकती है?' प्रेमी ने कहा—'हाँ, प्रभो।' भगवान प्रसन्न हो गये और फरमाया 'मैं भी जानना चाहता था कि तुम्हारा भाव कहाँ तक पक्का है। देखो, तुम अपने भाव की परिपकता से नरक को स्वर्ग बना सके हो, इसलिए इसका इनाम यह है कि अब तुम्हारा प्रियतम तुमको तुम्हारे स्वर्ग में ही मिलेगा।' इससे स्पष्ट होता है कि सुख चित्त की अनुकूलता का नाम है, किसी और चीज का नहीं। जब यह सत् है तो बाह्य सुख की कल्पना तो असत् ही हो गई।

मुझे एक दफा एक महात्मा मिले और कहने लगे कि महाराज, ऋषिकेश बड़ी आनन्ददायक जगह है। मैंने पूछा—'महाराज, यहाँ कोई दुखी नही रहता?' उन्होंने कहा कि नहीं, यहाँ दुखी तो बहुत है। मैंने कहा—'फिर ऋषिकेश आनन्द उनको देता है जो पहले ही सुखी है या उनको कि जो दुखी है? आनन्द वालों को तो आनन्द दिया ही क्या, और

दुखी को आनन्द न दिया तो फिर यह आनन्ददायक रहा ही कैसे ?' उन्होंने कहा—'तो क्या यह दुःखरूप है ?' मैंने कहा—'वह भी नहीं; क्योंकि इस समय आप, मैं और कई लोग यहाँ सुखी हैं।' उन्होंने कहा—'क्या दुःखरूप और सुखरूप दोनों ही एक समय में है ?' मैंने कहा कि वह भी नहीं, क्योंकि आप केवल सुखी हैं और दूसरा केवल दुखी है। उन्होंने कहा कि फिर ऋषिकेश क्या हुआ ? मैंने कहा—'कुछ भी नहीं और सब कुछ। ऋषिकेश तो केवल 'है'—अस्तिमात्र। न यह सुखरूप है न दुखरूप और न दोनों का मिश्रण। यह तो केवल एक स्थान है। जिसको इसमें अनुकूलता मालूम हुई उसके लिए सुखरूप हो गया और जिसको प्रतिकूलता का अनुभव हुआ उसके लिए दुखरूप हो गया। और जिसको एक ही समय में दुख और सुख दोनों का भान हुआ उसके लिए सुख और दुखरूप दोनों ही हो गया। इसलिए ऋषिकेश और कुल संसार केवल 'है' और कुछ नहीं। यह एक प्रकृति है। हमारी भावनाएँ जिस-जिस क़िस्म की इसके साथ लगती हैं, उस-उस किस्म का रूप यह धारण कर लेती है।'

प्रश्न—लेकिन पदार्थ ख्वाह कुछ भी हों, किसी न किसी समय तो सुख देते ही हैं। अगर आप के अन्दर से सुख मिलता तो जिस समय एक चीज़ से सुख मिलता है उस समय उससे दुख हो सकता और जिस समय किसी से दुख मिलता है उससे सुख लिया जा सकता ?

उत्तर—यह तो आप के अभ्यास पर मुनहसर है। आप किसी भी पदार्थ को सुखरूप बना सकते हैं; उस समय भी कि जब वह आपके लिए सुखरूप न हो सकता हो।

एक आदमी को मख़मली बिछौनों पर सोने की आदत थी। वह कभी बिस्तर में एक शिकन (बट) को भी बर्दाश्त न कर सकता था। एक दिन एक महात्मा ने आकर उसका बिस्तर बाहर फिकवा दिया और ख़ुद वहीं बैठे रहे। जब वह आदमी घर आया तो अपने बिस्तर को न देख कर हैरान होकर नौकरों को डाँटा और पूछा कि बिस्तर कहाँ है ? उन्होंने जवाब दिया—'महाराज ! जिन महात्माजी को आप सुबह लाये थे उन्होंने उसको फिकवा दिया है और आज्ञा की है कि जब आप के मालिक आयें तो मुझे बुला लेना, मैं उनसे ख़ुद ही बात कर लूँगा।' उन्होंने कहा—'अच्छा, झट महात्माजी को बुला लाओ, मुझे जल्दी आराम करना है।' नौकर महात्माजी को ले आये। महात्माजी ने आकर कहा—'बेटा, इस ज़मीन ही पर सो जाओ। यह तुम्हारे लिए अच्छी बात है।' उसने कहा—'महाराज, यह तो ठीक है, लेकिन मुझको सोना नहीं आता। मैं बहुत अमीर हूँ, मुझे सुख केवल उस मख़मली बिस्तरे ही में मिल सकता है।' महात्माजी ने कहा—'नहीं, प्रभु ने आज्ञा की है कि तुमको कल दस लाख रुपया मिल जायगा यदि आज इस गरम और सख़्त ज़मीन पर सो जाओगे।' उसने कहा—'अच्छा महाराज, यदि कल मुझे दस लाख रुपया इस ज़मीन पर सोने से मिलेगा तो फिर और चाहिए ही

क्या ? सारी उमर में भी इतना रुपया न मिला। अगर ज़मीन पर सोने से यह सब कुछ मिल सके तो फिर और चाहिए ही क्या ?' ऐसा कह कर उस ज़मीन पर लेटने लगा और ज़मीन को चूमने लगा कि मेरी प्यारी ज़मीन, तेरी सख़्ती नरमी से अच्छी है, तू मख़मल से कहीं ज़्यादा नरम है, तू बड़ी ही अच्छी है। और मारे ख़ुशी के उस पर इस तरह की नींद सोया कि जो उसको कभी मख़मली बिस्तरे पर भी न आई थी। अब देखिए, उसके सुख का सम्बन्ध मख़मली बिछौने से हो चुका था और वह कहता था कि सुख एक स्वतन्त्र पदार्थ है, जिसका सम्बन्ध बिछौने से है। गोया वह सिद्धान्त कर चुका था कि अगर बिछौना किसी के पास न हो तो वह कभी सुखी नहीं कहला सकता। लेकिन जब उसको मालूम हुआ कि महात्मा के कहे मुताबिक़ दस लाख रुपया ज़मीन पर सोने से मिल सकता है तो उस समय वह ज़मीन उसको मख़मली बिछौने से भी सुन्दर हो गई। उससे एक शख़्स ने आकर कहा कि आप यहाँ क्यों पड़े हैं, बिस्तर पर लेटिए तो उसने झट जवाब दिया कि ऐसी निकम्मी चीज़ का नाम क्यों लेते हो। उस मनुष्य ने ज़बर्दस्ती घसीट कर बिस्तरे पर ला पटका तो झट कहने लगे—'तुम मेरे शत्रु हो। तुम नहीं जानते कि इस बिस्तर पर सोने से कितना नुकसान है। इस समय तो यह बिस्तर मुझे काँटों से ज़्यादा चुभ रहा है। ऐसा कह दौड़ कर ज़मीन पर जा लेटे। इससे निश्चित होता है कि सुख का सम्बन्ध अगर बिस्तरे

से नित्य होता तो जाना ही क्यों। और अगर ज़मीन से उसका सम्बन्ध किसी समय भी न होता तो उससे मिलना ही कैसे!

प्रश्न—लेकिन उसको ज़मीन में सुख तो उस समय भी न था, केवल रुपये के लालच ने ऐसा अनुभव कराया।

उत्तर—हमारा तो यही कहना है कि कारण ख्वाह कुछ भी हो, जिस पदार्थ से अनुकूलता हो जावे उसी में सुख पैदा हो जाता है। उस समय उसको ज़मीन ही बिछौने से सुन्दर मालूम हो रही थी।

जब यह बात है तो बाहर स्वतन्त्र न तो सुख ही रहा और न किसी पदार्थ से उसका नित्य सम्बन्ध ही हुआ। ऐसी दशा में प्रकृतिवादियों से, जो केवल जड़ (Matter) में ही सुख देख रहे हैं, क्या हम पूछ सकते हैं कि उनका सुख आखिर है कहाँ? इसी तरह तमाम शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के सुखों का हाल है।

शब्द—एक आदमी गाना सुन रहा था। उसे उसमें आनन्द आ रहा था। दूसरे ने आकर कहा कि इस गाने को सुनने से माली नुक़सान होता है। वह गाना छोड़ कर भाग गया।

स्पर्श—स्पर्श के सम्बन्ध का तो बिछौने का ज़िक्र आ ही गया।

रूप—किसी ने एक सुन्दर व्यक्ति को देखा और उससे प्रेम किया, लेकिन जब उसको मालूम हुआ कि इस व्यक्ति के सङ्ग से

उसको बदनाम होना पड़ेगा, और उसके कुछ अवगुण देखे तो उसके सौन्दर्य से उसको घृणा हो गई। या जब किसी ने सुन्दर-सुन्दर पदार्थ देखे तो वह उनसे प्रेम करने लगा, लेकिन जब उसको मालूम हुआ कि इनके संयोग से उसको जेलखाना मिलेगा। तो वह उनको छोड़ कर भाग गया।

गन्ध—एक पुष्प अति सुगन्ध वाला था, वह उसको सूँघने लगा। लेकिन जब डॉक्टर ने कहा कि इसको सूँघने से दिमाग़ को नज़ला वग़ैरह की बीमारियाँ लग जाती हैं, तो उसने उसको छोड़ दिया। इसलिए मालूम होता है कि जो क्षणिक या अल्प सुख हमने पदार्थों में मान भी लिया था, वह भी हमको स्वीकार नहीं है। दूसरे, अगर फिर भी कोई कहता है कि नहीं, सुख इनमे है ही; क्योंकि स्थूल दृष्टि से नज़र तो आता है, और मिलता भी है ख़्वाह वह भ्रम है या कुछ है, या हमको आदत पड़ गई है कि चन्द चीज़ों को सुख का कारण मान लिया है, और उनसे सुख ले रहे हैं; तो फिर भी हमारा कहना है कि ज़रा और देख लीजिए कि आप इस क्षणिक, माने हुए या अल्प सुख को किस कीमत से ख़रीदना चाहते हैं।

संयोग में वियोग का भय

एक माता जी ने एक समय मुझे अपने बाग़ से एक अत्यन्त सुन्दर पुष्प तोड़ कर दिया और कहा कि महाराज ! यह है आपकी भेंट। पुष्प अति सुन्दर था। मैं बार-बार उसकी तरफ़

देखने लगा। गोया सूरत यह थी कि गुलाब का खिला हुआ पुष्प था जिसके साथ एक लम्बी-सी डण्डी लटक रही थी। मैंने उस डण्डी और पुष्प को देख कर कहा—'माताजी, आपने मुझे इतना सुन्दर पुष्प तो ज़रूर दिया, लेकिन इसका भयङ्कर कॉटा तो उतारा ही नहीं!' वह कहने लगीं, महाराज, क्षमा कीजिए, मैं बूढ़ी हूँ, मेरी दृष्टि मन्द है इसलिए देख न सकी। आपको चुभा तो नहीं? लाइए मैं उतार दूँ।' मैंने कहा—'माताजी, चुभा तो बेशक नहीं, लेकिन हो सकता था कि चुभ जाता। लीजिए अपना पुष्प, इसका कॉटा निकाल दीजिए।' माताजी ने घबराते हुए पुष्प वापस ले लिया और उसकी डण्डी को एक सिरे से दूसरे सिरे तक देखने लगीं। उसमे कॉटा न तो देखने से नजर आया और न हाथ से मालूम हो सका। आख़िरकार वह हैरान हो गईं और कहने लगी—'महाराज, मैं मन्द-दृष्टि हूँ, मुझ को कॉटा नज़र नही आता, आप ही उतार डालिये।' मैंने कहा—'माता जी, मैं न उतारूँगा आप ही उतारिये। क्योंकि आयन्दा आप फिर ख़ुद कॉटा उतार कर ही इस किस्म के फूल किसी को दिया करेंगी।' उन्होंने फिर कॉटा देखने की कोशिश की, लेकिन नाकामयाब हुईं। आख़िर कहा—'महाराज, बूढ़ी माताओं का काम उनके बेटे कर दिया करते हैं। आप ही कॉटा उतार भी दीजिए और बतला भी दीजिए, ताकि आयन्दा एहतयात से काम लिया जा सके।'

मैंने पुष्प को ले कर माता जी से पूछा कि माता जी, आपने यही पुष्प मुझे क्यों दिया और कोई दूसरा क्यों न दिया? तो

कहने लगीं—'चूँकि यह हमारे बाग मे सब से सुन्दर पुष्प था।' मैंने कहा कि सुन्दर क्यों दिया, खराब क्यो न दे दिया ? वे कहने लगीं—'महाराज, जिससे आपको भला मालूम हो।' मैंने कहा—'तो इसका मतलब यह हुआ कि मै इसे देख कर इसकी सुन्दरता से प्रेम करूँ ?' माता चुप हो गईं। मैंने कहा कि माता जी, जब यह मुझे सुन्दर मालूम होगा तो मेरा इससे एक प्रकार का मानसिक संयोग हो जायगा और इसके बाद चन्द ही मिनट में यह फूल मुरझा जायगा; जिसका परिणाम यह होगा कि मेरा मन जो इससे संयोग पैदा कर चुका है वह इसके नाश से उस स्थान पर न ठहर सकेगा, और उसको ज़रूर गिरना पड़ेगा।

इसलिए संयोग मे वियोग का काँटा है। कितना जबर्दस्त है और किस कदर ज़ोर से चुभता है। माताजी, यह काँटा तो आपने उतारा भी नहीं और फूल मुझको दे दिया! माता चुप हो गईं और फिर कहने लगी—'महाराज, मेरी इतनी तेज़ नज़र कहाँ थी कि इस क़िस्म के काँटे को देख सकती। यह तो ख़ुर्दबीन (Microscopic test) से भी नज़र नहीं आ सकता इस को तो कोई तत्ववेत्ता ही देख सकते है। हम तो केवल किसी चीज़ के सौन्दर्य को देखकर उससे प्रेम करना शुरू कर देते हैं; और जब उस परिणामी पदार्थ का नाश हो जाता है तो हमारे मन को बड़ा कष्ट होता है। अहा, कैसी अच्छी बात का पता लगा! पुष्प में काँटा! भयङ्कर काँटा निकला!!"

यही हाल संसार की .खुशियों का है। जब मनुष्य उनके बाह्य अल्प सौन्दर्य को देख कर अपना मन उनको दे बैठता है तो यह अपने स्वभाववश नाश होने लगते हैं या बदलने लगते हैं और मनुष्य को इस संयोग के न रहने का अत्यन्त कष्ट होता है। यह नियम है कि जिस पदार्थ के रहने से सुख हो उसके न रहने से दुःख होता है। इसलिए संसार में जितने पदार्थ हैं उनसे संयोग के बाद वियोग अवश्य आता है। इसका परिणाम यह है कि मनुष्य को वह वियोग असह्य हो जाता है। इस दृष्टि से भी संसार की अल्प .खुशी के इर्द-गिर्द कितना भयंकर सर्प वियोग का चक्कर लगाये बैठा है !

अल्प सुख का अल्प समय

हमारे जीवन के २४ घण्टे बनते हैं। उनके दिन और रात दो हिस्से होते हैं। उसमें से रात का समय तो इस अल्प सुख के बग़ैर ही जाता है क्योंकि सोये पड़े हम इनको भोग नहीं सकते। रहा दिन का समय, वह हमारा कशमकश, इच्छाओं और चिन्ताओं में बीत जाता है। जो कुछ बाकी बचता है वह संसारी पुरुषों से लड़ाई-झगड़े मे गुज़रता है कि मैं इसको लूँगा, उसको लूँगा आदि। जिसमें से अगर ग़ौर से देखा जावे तो ऐसा समय कि जिस समय मे हम इस अल्प सुख को भोग करने के लिए निश्चिन्त हों बहुत ही कम मिलता है। लेना तो है सुख और चिन्ता यह लगी है कि यह सुख मिले कैसे ? हमारा सुख के

अनुभव करने का समय तो सुख की इच्छा और उस प्रयत्न में जा रहा है, जिससे शान्ति का हर समय अभाव होता रहे। अच्छा, किसी न किसी तरह वह समय सुख-भोग का आ ही गया और मनुष्य ने उसके लिए हर क़िस्म की आपत्तियाँ भी सहन कर लीं, लेकिन वह क्षणिक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का सुख भोगते-भोगते नष्ट हुआ जा रहा है। अब उस सुख के अभाव पर उस सुख को प्राप्त करने का दुःख तो लाख गुना है और सुख एक गुना; और फिर एक गुना सुख के नाश पर फिर दुःख सामने है कि 'आह वह तो जाता रहा! अब फिर उसको किस तरह प्राप्त किया जावे' गोया फिर वही चक्कर शुरू हो गया। इसका मतलब यह हुआ कि हम उतने से सुख के लिए (जो कई युक्तियों से पता चल चुका है कि सुख वहाँ है नहीं जहाँ हम देख रहे हैं) हमको कितना कष्ट सहन करना पड़ता है। वास्तव मे यह सुख एक दाना है, जिसको देख कर मन का पक्षी उसके मोह-जाल में फँस जाता है और जब नाश के शिकारी का मुँह देखता है तो इसको वह दाना खाना भी मुश्किल हो जाता है और बेचारा सहम-सहम कर घुल जाता है।

अगर ग़ौर से देखा जावे तो यह अल्प सुख का दाना ही संसार के बन्धन में हमको जकड़ रहा है। लेकिन यह जानने और सुनने पर भी हम इसको छोड़ नहीं सकते। बच्चा जब आग से हाथ जला लेता है तो फिर उसको नहीं छूता, लेकिन मनुष्य रोज़ इस क़िस्म की चोटें खाता है और फिर उन्हीं पदार्थों की इच्छा करता है!

अच्छा, लोग कहते हैं कि सुख धन मे है।

पहले तो धन के सुख को लेने के लिए धन की आवश्यकता है, और धन सञ्चय करने के लिए अनेक प्रकार के यत्न की जरूरत है; गोया धन संग्रह करने की इच्छा पैदा हुई तो बेचारा मनुष्य अनेक दु:ख के बन्धनों में जकड़ गया—अनेक प्रकार के यन्त्रों मे बँध गया। दिन-रात इधर-उधर मारा-मारा घूमने लगा। धर्म-अधर्म का ख़्याल ही छूट गया। जिस तरह भी हो धन मिलना चाहिए। बड़ी मुश्किल से कुछ धन इकट्ठा किया तो उसको रात को ही चोर लग गये। अब बेचारा फिर रो रहा है। अगर न भी चोर ले गये तो फ़िक्र यह लगी है कि किसी तरह यह धन जाता न रहे। गोया जो जीवन धन से आराम लेने के लिए था वह जीवन धन की रक्षा का एक मात्र साधन बन गया! अब रुपया अन्दर है, आप बाहर बैठे हैं। कोई उसको लूटने आता है तो कहा जाता है कि पहले हमको मार लो, फिर हमारे धन पर क़ब्ज़ा करना। इससे निश्चित हुआ कि जीवन धन के लिए बन गया, धन जीवन के लिए न रहा। ख़ैर, जो लाख शक्लों से धन इकट्ठा किया भी गया था वह रास्ते में चलते-चलते कोई सुन्दर पदार्थ देख कर लुट गया। अब धन को देकर उस चीज़ को ख़रीदा जा रहा है। जब उसको घर लाये तो उसका क्षणिक सुख भी किसी प्रतिकूल कारण से जाता रहा। इसलिए जिस सुख के कारण धन को चाहा था जब वह भी न मिला तो फिर धन की इच्छा का अर्थ ही क्या रहा!

एक को इज़्ज़त मिल गई। अब उस इज़्ज़त को कायम रखने के लिए तरह-तरह के दुःख झेले जा रहे हैं। ब्याह-शादियों और गार्डन पार्टियों पर रुपया अपनी हैसियत से ज़्यादा खर्च किया जा रहा है ताकि इज़्ज़त मे फ़र्क न आ जावे। गरज़ कि हर बड़े आदमी को पार्टी दी जा रही है, बड़ो से मेल-जोल रखा जा रहा है, बड़े-बड़े मकान बनाये जा रहे हैं, बड़ी-बड़ी मोटरकारें रखी जा रही हैं। यहाँ तक कि बड़े बनने के वास्ते सब दुःख अपने ऊपर इकट्ठे किये जा रहे हैं लेकिन परिणाम यह हुआ कि वह तमाम नक्शा ज़्यादा देर तक न चल सका और एक दिन 'तमाम इज़्ज़त की इमारत पहली छोटी इज़्ज़त को भी ले गिरी और यह हैरान होकर कहने लगा कि 'आह! यह क्या किया। मैंने इस किस्म की इज़्ज़त की ख्वाहिश ही क्यों की जब इसको न रहना था!'

ज़्यादा परिवार की इच्छा हो और वह ईश्वरीय कृपा से मिल भी गये परन्तु उनमें से कोई नेकचलन और कोई बदचलन, कोई अच्छा और कोई बुरा निकल आया, कोई बीमार हो रहा है, कोई मर रहा है, कोई भाग रहा है और कोई अपनी तमाम इच्छाओं को मटियामेट कर रहा है तो इन तमाम दुःखों और मुसीबतों को देखकर मनुष्य कह उठता है कि मैंने जिस सुख के लिए इनकी इच्छा की थी वह इनमें नहीं, फिर मैंने इनकी इच्छा क्यों की!

जिया तोको समझ न आई; मूरख तैं उमर गँवाई।
मात-पिता सुत कुटुम्ब-कबीलो धन जोबन ठकुराई,

कोई नहिं तेरो, तू न किसी को संग रह्यो ललचाई ।
जिया तोको समझ न आई ।

स्वर्ग की इच्छा की, वह मिल गया। जब वहाँ पहुँचे तो अपने से उत्तम स्थानों पर औरों को विराजमान पाया । इधर देखा, ज़्यादा शान वाले बैठे हैं, मुँह उधर को फेर लिया; उधर क्या देखा कि वहाँ और भी उच्च लोग बड़े सिंहासनों पर बैठे हैं। दिल मे बेचैनी पैदा हो गई। आख़िर सब तरफ़ से मुँह मोड़कर अपनी अवस्था को उच्च समझना शुरू किया। लेकिन कुछ समय के पश्चात् पैगाम (संदेशा) आया कि तुम्हारा वक़्त पूरा हो गया, अब तुमको दूसरे लोक की सैर करना है। रो-रोकर उन चीज़ों से लिपटना शुरू किया। लेकिन वहाँ कौन सुनता था ? ज़बर्दस्ती निकाले गये और यह कहते गये कि 'अफसोस ! मैंने जिस स्वर्ग की इच्छा मे इतना कष्ट उठाया, आख़िर वह भी न रहा ! मैं उन चीज़ों से सम्बन्ध पैदा कर रहा हूँ जिनका ख़ुद कोई ठिकाना नहीं; जो नाशवान हैं, क्षणभंगुर हैं। अफ़सोस, मैंने क्या किया !"

ऋद्धि-सिद्धियों की इच्छा की। वह अत्यन्त कष्ट के पश्चात् मिल गईं । कहीं कोई चमत्कार दिखाया, कहीं कोई। लोगों ने आ घेरा। पूजा होने लगी—आप ऋषि हैं, महर्षि हैं, अवतारों के समान हैं! धन्य है आपको और आपकी जननी को। आख़िर दूसरा ईश्वर कौन-सा ढूँढ़ना है वह आप ही में तो विराजमान है। दूसरे दिन एक ने आकर इज़्ज़त न की, ख़्याल आ गया कि इसने

गुस्ताखी की है; मेरी हस्ती को समझा तक नहीं। इस मूर्ख को यह पता नहीं कि मैं कौन हूँ। उसको झट शाप दे दिया। किसी ने इज़्ज़त की, उसे वर दे दिया। आख़िर बड़े महात्मा मशहूर हो गये। इधर इनके अन्दर एक अभिमान यह आ गया कि मैं कितना बड़ा हो गया, लोग मुझ से कितना डरते हैं और मेरी कितनी इज़्ज़त करते हैं। आख़िर मुझ-सा व्यक्ति बनना कौन-सी सहल बात है। मैंने भी तो घोर तप किया है। मेरा प्रकाश बड़ा है, मैं तपस्वी हूँ इत्यादि। इतने में अहङ्कार की रस्सी ने आ बाँधा और यह अन्धकूप में जा पड़ा। यह उस स्रोत-केन्द्र को भूल गया कि जिसका प्रकाश था। यह उस प्रकाश को अपना समझने लगा!

एक बल्ब (bulb) के गिर्द पतंगे उड़ रहे थे और बड़े प्रेम से उस प्रकाश को चूम रहे थे। चूँकि प्रकाश बल्ब में था, इसलिए बल्ब को यही ख़्याल हो गया कि पतंगे मेरे गिर्द घूम रहे हैं, मेरा पूजन किया जा रहा है। आख़िरकार एक दिन किसी कारण से उस बल्ब में सूराख़-सा हो गया, जिससे हवा उसमें घुस गई और प्रकाश वहाँ से जाता रहा। नतीजा यह हुआ कि एक पतंगा भी वहाँ न रहा। वह बल्ब इन्तज़ार करता रहा, लेकिन कोई न आया। आखिरकार किसी ने उसकी मरम्मत की और उस हवा को उसमें से निकाल दिया, जो अभिमान की हवा उसमें भर गई थी। फिर प्रकाश switch on होने से (बटन दबाने से) उसमें आया। नतीजा यह हुआ कि फिर उसी तरह परवानों

का जमघट उस वल्व के गिर्द आ जमा हुआ। मगर अब फ़र्क़ यह था कि वल्व मारे शरम के झुका जा रहा था और कह रहा था कि क्या हुआ अगर पतंगे मेरे गिर्द घूम रहे हैं। असल बात तो यह है कि यह उस प्रकाश के प्रेमी हैं जो मेरे अहङ्कार की हवा दूर होने पर मेरे अन्दर आया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रकाश का मेरे अन्दर आना तो गौरव की बात है लेकिन पतंगों का प्रेम तो प्रकाश से ही है। तमाम बड़ाई प्रकाश की है। अगर मुझे कुछ मिल रहा है तो वह इसी प्रकाश की बदौलत। मेरा अपना हक़ तो वह है कि जब यह प्रकाश न रहा था तो एक पतंगा भी मेरे इर्द-गिर्द नज़र न आता था। इसलिए यह मेरे लिए इज्ज़त और नम्रता का मुक़ाम है कि पतंगे मेरे गिर्द घूमें। आयन्दा वल्व को यह अहतयात हो गई कि यह तमाम महत्व प्रकाश का है, मेरा नहीं। मैं तो ज़र्रा-ए-नाचीज़ हूँ।

लेकिन अकसर ऐसा होता है कि मनुष्य दाता को भूल कर धन को ही अपना समझ बैठता है और जब यह नाजायज़ अहङ्कार आता है तो मनुष्य अहङ्कार के बन्धन में फँस जाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि चन्द ही रोज़ में वह शक्तियाँ भी जाती रहती हैं और मनुष्य अफ़सोस करता है कि यह क्या हुआ! मैंने नाहक ऐसी चीज़ों की इच्छा की जिनके जाने से इस समय मुझको अत्यन्त कष्ट हो रहा है। और दोबारा लोभ और पश्चात्ताप के बाद उन शक्तियों को हासिल करे।

अव्वल तो है ही मुश्किल और दूसरे फिर भय है कि कहीं फिर यह अहङ्कार आकर न बाँध ले। इन शक्तियों को लेने से फ़ायदा क्या ? एक बड़ी शक्ति परमात्मा की अपना काम कर ही रही है जो सब कुछ करने पर भी तमाम इज्ज़त से अहङ्कार नहीं करती; वह अपने काम के लिए काफ़ी है। मुझको अलहदा ताकतें बना कर क्या करना है। और दूसरे, इन शक्तियों के लेने से मुद्दआ (उद्देश्य) तो शान्ति है लेकिन मैं तो और अशान्त हो गया था। क्योंकि अपने ही किस्म के चक्कर चलाने लग गया था। मुझे अफ़सोस है कि मैंने अकसर अपनी बड़ाई जनाने के ही लिए कई लोगों को वर शाप भी दे दिये—उनके लाभार्थ नहीं !

एक दफ़ा एक महात्मा ने ईश्वर की आराधना की। भगवान प्रसन्न हुए। दर्शन दिये और पूछा कि क्या चाहते हो ? कहा—'प्रभो ! हवा और बारिश (वर्षा) का होना मेरे हाथ मे कर दीजिए।' प्रभु ने कहा—'कुछ और माँग लो तो बेहतर होगा। यह मेरा काम है तुम इसे लेकर क्या करोगे।' लेकिन महात्मा को न मालूम क्या ख़्याल आया कि लिए बग़ैर रहे ही नहीं। आख़िरकार प्रभु ने आज्ञा की—'तथास्तु'। अब यह महात्मा शक्तिशाली बन गये। किसी के खेत पर पानी बरसा, और किसी की सड़क पर छिड़काव कर दिया। जिससे नाराज़ हुए उसके खेत पर पानी का बरसना ही बन्द कर दिया। एक दिन बड़े ज़ोर से आँधी चली और कई घण्टे तक चलती ही रही। एक बुढ़िया महात्मा जी के पास आकर रोने लगी—'महाराज ! कृपा

कीजिए। मैं ग़रीब दुखिया हूँ, मेरी एक ही तिनकों की झोंपड़ी है और वह भी उड़ी जा रही है। आख़िर मैं कहाँ रहूँगी? मेरे बच्चे सरदी-गरमी से मर जायँगे। कृपा कीजिए और इस हवा को बन्द कर दीजिए। महात्मा जी ने कहा कि मैं कहाँ तक तुम लोगों की इच्छाओं को पूर्ण करता रहूँगा! आख़िर मुझे अपना भी तो कुछ काम करना है या नहीं!' लेकिन बुढ़िया बहुत गिड़गिड़ाई और बिनती करने लगी कि आप दयालु हैं, दुखियों पर रहम करते हैं, कृपा कीजिए ताकि मेरा यह कष्ट दूर हो। महात्मा जी ने प्रसन्न हो कर कहा—'जा, हवा बन्द हो गई।' इतने में क्या देखते हैं कि हवा का नामोनिशान भी न रहा। लेकिन परिणाम बहुत बुरा हुआ और वह यह कि एक जहाज़ जो उस हवा के सहारे ठीक चल रहा था, उसके अचानक बन्द हो जाने से फ़ौरन डूब गया जिसमें सैकड़ों आदमी मौजूद थे।

महात्मा जी ने माई की झोंपडी तो ज़रूर बचा दी, लेकिन बेचारे सैकड़ों घरों को तबाह कर दिया। उधर खेतों पर वक़्त बे-वक़्त बारिश का नतीजा यह हुआ कि खेत ख़राब हो गये। उनमें कीड़े पड़ गये। गोया दोनों शक्तियों का परिणाम बुरा हो गया! यह देखकर प्रभु का भयङ्कर कोप उस महात्मा पर हुआ। उससे पूछा गया कि जब तू इन शक्तियों का दुरुस्त इस्तेमाल करना नहीं जानता था तो तूने ज़िद करके ये शक्तियाँ मुझ से क्यों माँग ली थीं? मैं जहाँ इन शक्तियों को रखता हूँ वहाँ सर्वज्ञ भी हूँ और सर्व व्यापक भी। तू अल्पज्ञ और एकदेशी

होने पर इन शक्तियों को लिये बग़ैर न रहा और नतीजे में इतना बड़ा नुक़सान कर दिया! अब इसका परिणाम तुम्हारे लिए क्या होना चाहिए? प्रभु ने कहा कि देखो, अगर मैं इन शक्तियों को अपनी प्रसन्नता से तुम को देता तो तुम को उनके इस्तेमाल की बातें भी साथ देता जिससे यह नुकसान न होता। उस समय महात्मा जी के कष्ट की हद न थी। वह कह रहे थे कि—'हाय! मैंने खुद अपने लिए ऋद्धि-सिद्धियों की इच्छा क्यों की! प्रभु प्रसन्न हुए थे, वे अगर खुद ही मुझको इस किस्म की शक्तियाँ देते तो साथ ही उनके इस्तेमाल की शक्ति भी देते।

विद्या—विद्या-ग्रहण के बाद बड़े विद्वान हो गये। चारों तरफ़ शास्त्रार्थ होने लगे कि हम यह हैं, हम वह हैं। हमने इसको जीता, उसको हराया वग़ैरह। इन भावों से एक अभिमान और द्वैत पैदा हो गया। विद्या का असर तो यह होना चाहिए था कि अपने-बेगाने का भाव उड़ जाता और संसार में अनेकता में एकता का अनुभव होता, लेकिन यहाँ विद्या का अभिमान है। ख़ैर, दुनिया भर को जीत लिया सार्टीफ़िकेट्स की भरमार हो गई—बड़े पण्डित हैं, बड़े विद्वान हैं, किसी से हारते नहीं, सब से जीत जाते हैं। आख़िर एक दिन क्या हुआ कि एक मामूली से पण्डित कहीं से आ गये और किसी तरह उनसे शास्त्रार्थ शुरू करने के लिए यह पण्डित जी तैयार हो गये। उन्होंने कहा कि मैं निरक्षर मूढ़ हूँ, मैं आप से क्या बहस कर सकता हूँ। लेकिन उन्होंने कहा कि आख़िर तू पण्डित तो है ही; यह हमने भी सुना।

आज तक तू हमारे सामने न आया था, आज आ गया है। बहस में हर्ज ही क्या है। वैसे भी तो तू हारा हुआ ही है, बहस के बाद भी हार लेना। यह तो निश्चित ही है कि तू हमसे जीत नहीं, सकता। हमारा झण्डा तो इस समय संसार भर में लहरा रहा है; हम आखिर पण्डित ही तो हुए।

खैर, उसने कहा कि महाराज, आज्ञापालन में तो मुझे इन्कार नहीं, लेकिन यह तो बताइए कि आप बहस किससे कर रहे हैं, आपका इस शास्त्रार्थ से मतलब क्या है, और विद्या का सारांश या तत्व क्या है? पहले पण्डित जी ने जवाब दिया कि मैं तुमसे बहस कर रहा हूँ और मतलब मेरा जीतना है। उसने कहा—'ठीक है। अब यह बताइए कि वेद और शास्त्रों का तत्व क्या है, वे क्या बतलाते हैं? पण्डित जी ने कहा कि 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चिन।' भावार्थ—संसार में केवल एक अद्वितीय ब्रह्म है। जो कुछ यह नानात्व की प्रतीति होती है यह वास्तव में कुछ नहीं, या इसका दूसरे सिद्धान्ती लोगों के मुताबिक यह भी अर्थ किया जा सकता है कि संसार में प्रभु अद्वितीय और लासानी हैं, कोई उनकी बराबरी नहीं कर सकता। और यह जो नानात्व की प्रतीति हो रही है यह न होने के बराबर है या उसके सामने तुच्छ है। दोनों सिद्धान्तों में सत् क्या है इसको जाने दीजिए। खैर, दोनों ही ठीक हैं। अब मामूली पण्डित पूछते हैं कि अगर तत्व एक है तो आप बहस किससे कर रहे हैं? सत् से, असत से या दोनों के मिश्रण से?

जीतना और उसका ख़्याल सत् का विकार है, असत् का है या अभिमान का, जो असली तत्व को भुलाकर द्वैत की तरफ़ ले जाता है, जो कि विद्या के सिद्धान्त या सारांश के कतई विरुद्ध है।

पण्डित जी ने कहा—'मेरा शास्त्रार्थ सत् (वस्तु) से है। उसने पूछा कि सत् या अद्वितीय सत् न तो दो हो सकते हैं और न उनसे बहस ही की जरूरत हो सकती है। अगर असत् से शास्त्रार्थ हो रहा है तो असत् है ही नहीं; अगर दोनों के मिश्रण से बहस है तो दोनों का मिश्रण ख़ुद अज्ञान का कर्म है वरना सत् और असत् मिल ही कैसे सकते हैं।

और फिर जीतना सत् का विकार तो हो ही नही सकता, क्योंकि सत् में से अभिमान, अहङ्कार, ईर्षा, राग-द्वेष, दु:ख और सुख निकल नहीं सकते। अगर असत् का विकार है तो यह ख़्याल ख़ुद ही बड़ा तुच्छ हुआ, अतएव इस ख़्याल के होते आत्म तत्व में कमी आ जायगी। इसलिए पण्डित जी, पहले मुझे शास्त्रार्थ के लिए कोई जगह निकाल दीजिए फिर बहस की जायगी।

पण्डित जी ने कहा कि सत् और असत् मे निर्णय के लिए बहस की जा रही है। उसने जवाब दिया कि आपको आज तक मालूम हुआ है कि नहीं कि सत् क्या है और असत् क्या है? अगर आपने जाना नहीं तो आप अद्वितीय पण्डित क्योंकर

हुए; क्योंकि अभी तक आप मे अज्ञान बाक़ी है और अगर आपने सब कुछ जान रखा है तो फिर निर्णय मेरे लिए कर रहे हैं या अपने लिए ? अपने लिए तो बनता नहीं क्योंकि आप पहले ही सब कुछ जाने बैठे हैं और मेरे लिए करने की ज़रूरत नहीं क्योंकि मैंने निर्णय के लिए कोई प्रार्थना की नहीं। अगर आप ज़बर्दस्ती मेरे भय के लिए यह शास्त्रार्थ कर रहे हैं तो फिर जीत-हार का प्रश्न ही उड़ जाता है। अच्छा, अगर आपको जीतने का ख्याल है तो मैं शास्त्रार्थ किये बग़ैर ही हार गया क्योंकि हो सकता है कि किसी समय अज्ञानी को भी कोई ऐसी बात सूझ जाय कि जो बड़े विद्वानों को न सूझ सके। कौन कहता है कि बादल का परदा हटने से किस तरफ़ से कौन सी सूरज की किरण बाहर निकल आयेगी। दूसरे; मुझको मालूम है कि अक्सर शास्त्रार्थ मे हारे हुए लोगों को कितना दुःख होता है। क्योंकि एक दिन मैं भी इसी दृष्टि से बहस करने लगा था और आख़िरकार हार गया तो मुझको अत्यन्त कष्ट हुआ था; जिसको मैं सहन न कर सका। उस अवस्था को याद करके मेरे सामने आपकी हालत आ रही है। मैं समझता हूँ कि अगर आप हार गये तो आपको अत्यन्त कष्ट होगा। किसी को कष्ट देना मेरे सिद्धान्त के हर तरह विरुद्ध है। इसलिए मैं हार की अवस्था को समझता हुआ आपको कह सकता हूँ कि आप मुझ से जीत गये और मैं आपको जीत का सार्टीफ़िकट भी लिखे देता हूँ। मुझे इस तरह की हार में हर्गिज़

कष्ट न होगा, क्योंकि मुझे मालूम है कि मैं आपको कष्ट से बचा रहा हूँ, जो कि मेरा सिद्धान्त है।

पण्डित जी ने दूसरे पण्डित जी की इन बातों को सुनकर बहुत अफ़सोस प्रकट किया और कहा कि तुम्हारे सामने मैं एक हारे हुए पुरुष के समान हूँ। इस हार का मुझे बहुत दुःख है क्योंकि मैं आपकी बातों का अच्छा जवाब न दे सका। मुझे अफ़सोस है। आह विद्वान बनने की इच्छा! तूने यहाँ भी मुझको शान्ति न दी। मैं तो विद्वान बन कर इच्छाओं को बढ़ाता गया कि जो दरअसल विद्वानों का काम न था। विद्या का तात्पर्य तो यह है कि इच्छाओं का अभाव हो जावे। अगर आज मैं इससे जीतना न चाहता तो आज मुझे इस तरह हार कर दुःख भी क्यों होता? मैंने जीत की इच्छा से उस द्वैत को अपने अनुभव में सत् कर लिया, जो शास्त्रों के सिद्धान्त के क़तई विरुद्ध है। मैंने विद्या से दूसरों के चित्त को शान्त न करना चाहा, बल्कि दूसरों का दिल दुखाता रहा। मैंने विद्या से एकत्व को हासिल न किया; बल्कि द्वैत को उत्पन्न कर लिया। विद्या का भावार्थ था कि मेरे दिल मे सार्वभौमिक प्रेम पैदा होता, मैं सब को अपने समान समझ कर प्यार करता, जैसा कि वेदों में भी भगवान की आज्ञा है कि 'ऐ जीव, तू दूसरे जीवों से उसी तरह प्रेम और मोहब्बत कर जिस तरह तू अपने से करना या कराना चाहता है।' लेकिन मैंने तो विद्या का भावार्थ निकाला दूसरों को जीत कर एक बड़ा विद्वान बनना।

मैंने अपने इसी अभिमान से अपने आप को प्रभु से जुदा कर लिया और फिर एक अलहदा वस्तु बन कर बड़ा बनना शुरू किया। अब मैं बिलमुकाबिल दुनिया के कहाँ तक बड़ा बन सकता हूँ। मैं अपने को बड़ा विद्वान समझता था और सबको बातों में हरा देता था, लेकिन यह न समझता था कि मैं अभी तक विद्या के भाव ही को नहीं समझ सका। अगर कुछ भी जानता तो यह अहङ्कार, अभिमान और यह ग़रूर मेरे अन्दर किस तरह रह सकता? मेरे कर्म साबित करते हैं कि मैंने अभी तक विद्या के मर्म को नहीं जाना। यह पण्डित मेरे सामने कुछ ज़्यादा पढ़ा-लिखा नहीं, लेकिन यह तत्ववेत्ता मालूम होता है। इसमें अभिमान नहीं। यह असली रूप में सब में अपनी आत्मा को देख रहा है। यह सब से अपने समान प्रेम कर रहा है, यह सबको अपने से अधिक सुख देना चाहता है। यह दूसरों को सुख देकर सुखी होता है। मैंने आज तक अपनी विद्या के बल पर औरों का निरादर किया, हज़ारों को दुःख दिया, हज़ारों को हराया। मैं भ्रम-रूपी स्वप्न में पड़ा अपने से आप लड़ता रहा, मैं अपने से आप जीत कर ख़ुश होता रहा। आह! ओ विद्या, मैंने विद्वान बनने की कोशिश की और इच्छा मे कामयाब हुआ, लेकिन आज मुझको पता लगा कि मैं अज्ञानी हूँ। मुझे इस पण्डित ने एक छोटी-सी बात में लाजवाब कर दिया। क्या इस विद्या की इच्छा ही ने मुझे आज यह कष्ट नहीं दिया? इससे ऐसी विद्या में भी सुख नहीं।

वल की इच्छा

वड़े वलवान वन गये, शेरों और हाथियों को मार डाला, जङ्ग में हज़ारों को पीस दिया, गिरा दिया, पछाड़ दिया। एक दिन देखा कि वुख़ार ने आ दवाया और उसके ज़ोर से जोर न चल सका। दूसरे दिन देखा कि किसी और ने आ दबाया। एक दिन इस वल ने अभिमान वढ़ा दिया तो क्या देखते हैं कि एक और पहलवान पैदा हो गया, जिससे मुक़ावले की ठहरी और यह पछड़ गये। बस फिर क्या था; मारे दु:ख के वेचैन हो गये और कहने लगे 'आखिर इसमें भी चैन न था। मैंने चैन लेने के लिए वल की इच्छा क्यों की !'

इस क़िस्म की और भी कई वातों को सामने देखकर संसार का आकर्षण फीका पड़ जाता है (अगर किसी तरह उसको मान भी लिया जावे) और मनुष्य की इच्छा जो इन पदार्थों को देखकर जवान होने लगी थी बूढ़ी हो कर मरने लगती है और फिर मनुष्य कहने लगता है कि—

जुज़ ईं कि महव कुनम अज़ दिल आरज़ू हा रा।
न मॉदा अस्त मरा दर दिल आरजूए दिगर॥

अर्थात्—सिवाय इसके कि मैं दिल से तमाम इच्छाओं को निकाल दूँ, और कोई इच्छा मेरे मन मे नहीं रही है।

प्रश्न—तो क्या प्रभु को पाने की इच्छा भी ठीक नहीं ?

उत्तर—नही, यह बात और है। हर जीव को ईश्वर के पाने की इच्छा करनी चाहिए। क्योंकि जब ईश्वर-दर्शन की इच्छा पैदा होती है तो उसका पहला प्रभाव यह होता है कि बाकी तमाम इच्छाओं का अत्यन्त अभाव हो जाता है। गोया तमाम बाकी इच्छाएँ जो संसारी है, मिट जाती हैं और इस इच्छा का प्रभाव यह होता है कि इससे ईश्वर की समीपता मिलती है और उस समीपता में दर्शन होते हैं। दर्शन से फिर दर्शन की इच्छा भी जाती रहती है। इस इच्छा को इच्छा में शामिल नहीं किया जा सकता। यह तो कुल इच्छाओं को मिटाने वाली है। क्योंकि इसके आने से और इच्छाओं का आना बन्द हो जाता है; इसलिए इस इच्छा के सिवाय और कोई इच्छाएँ दिल में न रहनी चाहिए क्योंकि इच्छाओं से दु ख ही दु ख मिलता है और इस इच्छा से सिवाय सुख के और कुछ नहीं मिलता।

प्रश्न—तो इच्छा तो हर एक समान ही हो सकती है। जिस तरह पदार्थों को पाने की उसी तरह ईश्वर को पाने की। क्योंकि जब तक भगवान् मिले नहीं, दुःख रहा और जब मिल गये तो उनके भाग जाने का भय बना रहा और जब भाग गये तो फिर रोते फिरे।

उत्तर—यह ठीक है, लेकिन इसमें आकाश-पाताल का अन्तर है। प्रभु को पाने की इच्छा—यानी जब तक वह नहीं मिले—दूसरे शब्दों में, उनका विरह—उनका वियोग आप उसी तरह दुखदाई समझते हैं जिस तरह बाक़ी सांसारिक पदार्थों की

इच्छा के वियोग मे होता है ? यह ग़लत है। एक के मन में काँटे की इच्छा हुई, दूसरे में फूल की, एक के मन में बुराई की, दूसरे के मन में भलाई की। इच्छाएँ तो बराबर हैं, लेकिन असर यह है कि जिसके मन में काँटे का ख़्याल है या इच्छा है उसके वियोग, विरह या अप्राप्त अवस्था में काँटे का स्मरण बना रहेगा जिससे कि काँटा उसके सामने रहेगा, और जिसके मन में पुष्प का ख़्याल रहेगा उसके सामने पुष्प ही वियोग-काल में भी रहेगा। इसी तरह जिनके सामने सांसारिक पदार्थों की इच्छाएँ रहेंगी उनके सामने सांसारिक पदार्थ ही रहेंगे और जिसके मन में प्रभु की इच्छा रहेगी उसके सामने प्रभु वियोग-काल में भी रहेंगे। गोया इस वियोग में भी मानसिक संयोग तो बन ही जायेगा।

धन्य वह मन है जिसमे अप्राप्तकाल मे वियोग अथवा विरह में भी प्रभु-स्मरण और ध्यान विराजमान है। इस स्मरण, ध्यान और अप्राप्त अवस्था में जिस अद्भुत पदार्थ की प्राप्ति होती है वह नित्य है। इस वियोग में पहला सुख तो यह मिलता है कि दुनिया के तमाम वियोग और अप्राप्त वस्तुओं का ध्यान जाता रहता है और दुःख के न होने का सुख उसको मिलता है; दूसरा सुख इस बात का होता है कि मैं प्रभु का ध्यान कर रहा हूँ, किसी और का नहीं। मनुष्य को उसकी याद का जो सुख मिलता है उसको वही जानता है जो जानता है, दूसरा क्या समझ सकता है ? जिसको इस प्रेम या

वियोग का एक जर्रा भी मिल जावे उसकी .खुशी की हद नहीं रहती।

प्रश्न—हम तो प्रभु-प्रेमियों को भी रोता-पीटता देखते हैं। आप कैसे कहते हैं कि वे सुखी हैं?

उत्तर—अगर आपके ख्याल मे वे वाकई दुखी हैं तो उनसे इतना पूछ देखिए कि अगर आपको इस विरह मे दु.ख है तो क्या आपका यह विरह बिना प्रभु-दर्शन कराये ही छीन लिया जावे? अगर वे 'हाँ' कर दें तो आप ठीक निकले वरना आप ख़ुद ही समझ लेंगे कि जिस चीज़ को यह बावजूद रोने-धोने के भी नहीं छोड़ते और न छोड़ना ही चाहते हैं और न छोड़ ही सकते हैं उसमें जरूर कुछ न कुछ आनन्द ऐसा विचित्र होगा कि जिसको वह खोना नहीं चाहते। वे कहते हैं—

मन लज़्ज़ते दर्दे तो बदरमाँ न फ़रोशम।
कुफ्रे. सरे .ज़ुल्फ़े तो ब ईमाँ न फ़रोशम॥

अर्थात्—मैं तेरे विरह के दर्द के आनन्द को दवाई से हर्गिज़ नहीं बेच सकता, और न ही उस अधर्म को (जो तेरे प्रेम में लोगों को प्रतीत होता है) सांसारिक या संसारी लोगों के धर्म से बेच सकता हूँ। क्योंकि मैं जानता हूँ कि तेरा दर्द कुल सुखों से बड़ा है और तेरे प्रेम का अधर्म दुनिया के तमाम धर्मों से बड़ा। यह तो कहने मात्र को अधर्म है। और वह भी उनकी नज़र मे कि जो असली धर्म के अर्थ को नहीं जान सकते।

वह इस दर्द की लज्जत को किसी भी दवा से नहीं बेचना चाहते। वह इसमे घबराते जरूर हैं, लेकिन इसको छोड़ना नहीं चाहते। पतंगे दीपक में जलते हैं, लेकिन दीपक के बग़ैर भी जलते हैं। दीपक के बाहर तो इसलिए जलते हैं कि वह दीपक तक पहुँच जायँ और पहुँच कर इसलिए जलते हैं कि उसमें जलना जरूरी है। इनकी हालत तो यह हो जाती है—

बा तो यकदम नमी तवानम ज़ीस्त।
बे तो अम नेस्त हम शकेबाई॥

अर्थात्—हे प्रभो! तेरे साथ तो हम एक सेकण्ड भी ज़िन्दा नही रह सकते और बगैर तेरे हमको सब्र नही आता। पतंगा दीपक मे गिर कर एक सेकण्ड भी ज़िन्दा नहीं रह सकता और उसके बग़ैर उसको चैन मिलता नहीं। जब जीव प्रभु को देखता है तो उसके सौन्दर्य की ज्वाला मे अपने अहङ्कार आदि को नाश कर बैठता है यानी जला देता है, लेकिन जब उस ज्वाला के बगैर होता है तो उस तरह जलता है। बहरहाल दोनों तरह जलना ही जलना है। लेकिन अगर कोई पतंगे से कह दे कि हम तेरे इस प्रेम को छीन लेते है तो वह ज़रूर कह देगा कि फिर मेरा जीवन ही किस काम का? और अगर प्रेम मे रहता है तो वह जलन उसको सुहाती है। सांसारिक जलन और पारमार्थिक जलन में भेद इतना है कि एक से मनुष्य छूटना चाहता है और दूसरे से नहीं। एक से तो मिथ्या बन्धन मे फॅसता है और दूसरे से सत्

बन्धन को धारण करता है। इस जलन के लिए महात्माओं ने लिखा है—

तेरा वह ग़म जिसे सौ जॉ से लें हम शादमाँ होकर।
तेरा वह दर्द जो दिल में रहे आरामे जॉ होकर॥
पता मिट कर लगाया राहे दिल से कूए जानाँ का।
निशाँ पैदा किया तनहा ने वेनामो-निशॉ होकर॥

अर्थात्—हे प्रभो! तेरा दर्द अगर हमको सौ जान क़ुर्बान करने से मिल सके तो हमको बहुत सस्ता मालूम होगा क्योंकि जीवन तो वैसे भी नष्ट हुआ ही जा रहा है। तू अपने दर्शन न दे, केवल अपने दर्शनों की इच्छा लगा दे। फिर हम तेरे दर्द को एक निकम्मी चीज समझ कर पास न रक्खेंगे बल्कि वह हमारे जान का आराम होगा और उस दर्द का आख़री काम यह होगा कि हमको नष्ट कर देगा—ख़त्म कर देगा। और जब हम न रहेंगे, हमको तेरा पता चलेगा कि तू क्या है और कहाँ है।

तुझको मनुष्य अपनी नजर से तो पहचान ही नहीं सकता क्योंकि तू लामहदूद अपरिच्छिन्न (unlimited), और जीव परिच्छिन्न और महदूद (limited) है। एक महदूद लामहदूद को पहचान ही कैसे सकता है! तुझको पहचानने के लिए अपना आप छोड़ना पड़ता है। जब तक मनुष्य की अपनी जहालत (अज्ञान) ख़त्म न हो, उस समय तक तेरा ज्ञान होना मुश्किल है; और अपनी जहालत बग़ैर तेरे ज्ञान के दूर होनी मुश्किल है। तेरा

ज्ञान तुझसे ही ताल्लुक़ रखता है इसलिए जिस कदर तेरा दर्द हमारे दिल में आयेगा उसी कदर हमको अपने से बेख़बरी होती जायगी और जिस कदर अपने से बेख़बरी होगी उसी क़दर तेरी ख़बर मिलती जायगी।

इसलिए प्रभु का प्रेम, विरह, वियोग या दर्द अति निराली तड़प रखता है। इसका सुख विचित्र है। प्रेमी इसी से जीता और इसी से मरता है। वह कभी भी इस दर्द से दूर होना नहीं चाहता। हाँ, एक तरह इस दर्द से दूर होता है कि जब इस तड़प या दर्द की वजह से प्रभु मिल जाते हैं तो मिलने से वियोग का दर्द जाता रहता है; यहाँ तक कि मिलाप में अपना भी होश नहीं रहता।

इसलिए इस इच्छा का दर्जा सांसारिक इच्छा में शामिल नहीं किया जाता, यह इच्छा कुल इच्छाओं से नजात देती है। बाकी इच्छाएँ इस इच्छा से भुलाती हैं और सांसारिक बन्धनों में जकड़ कर मनुष्य को बेतरह का कष्ट देती हैं।

एक महारानी ने मुझसे पूछा कि महाराज, जब कुल इच्छाओं का त्याग ही मोक्ष है तो फिर ईश्वर-दर्शन की इच्छा को भी बन्धन क्यों नहीं कहा जाता? मैंने जवाब दिया कि माता जी अगर आप के पाँव में काँटा चुभ जाय तो आप क्या किया करती हैं? उन्होंने जवाब दिया कि उसको निकालने की कोशिश करती हूँ? क्योंकि उससे कष्ट होता है। मैंने पूछा, किस तरह निकालती हैं? कहा, महाराज दूसरे काँटे से। मैंने कहा जब काँटों को निकाल फेंकना ही दुरुस्त है तो फिर दूसरे काँटे को

क्योंकि लिया जाता है; जब कि पहला काँटा ही दु:खदायी बन रहा है ? कहा—नही महाराज, पहले और दूसरे काँटे में तो बड़ा अन्तर है। पहला दु:ख देता है, चुभ रहा है और दसरा उसको निकालने का काम देता है। मैंने कहा—जब दूसरा काँटा पहले काँटे को निकालता है तो उसमे भी तो दु:ख होता है; क्योंकि वह भी तो चुभता है ? उन्होंने कहा—महाराज, यह तो ठीक है लेकिन अन्तर यह है पहले काँटे का दर्द दूसरे काँटे के दर्द से निराला है क्योंकि कि पहला तो दुःख दे रहा है और उसको निकालने की कोशिश की जा रही है। उसका दर्द किसी प्रकार से भी हमारे अनुकूल नहीं है; लेकिन दूसरे काँटे से जो पहले काँटे को निकालते समय कष्ट होता है उसका कष्ट अप्रिय नहीं लगता बल्कि भला मालूम होता है। क्योंकि हमको मालूम होता है कि यह दूसरा दर्द पहले दर्द को, जो कि हमको एक मुद्दत से कष्ट दे रहा है और देता रहेगा, निकाल कर बाहर करेगा और हमको इसके बाद शान्ति आ जायगी। दूसरे काँटे का दर्द दर्द तो है लेकिन पहले लम्बे लगातार दर्द को दूर करने के लिए है। यह अल्प समय का दर्द उस दीर्घ समय के दर्द को दूर करके आप भी तो नष्ट हो जाता है। यह प्यारा इसलिए लगता है कि न तो खुद ज्यादा देर तक रहता है और न दूसरे को रहने देता है। मैंने कहा, आप ने दर्द दर्द मे तो भेद पैदा कर लिया लेकिन काँटे तो काँटे ही हुए ? उन्होंने कहा—यह तो ठीक है कि काँटे तो काँटे ही हैं, लेकिन उनका भिन्न-भिन्न कार्य उनको

प्रिय और अप्रिय बना रहा है। एक चुभता है, दूसरा उस चुभन को दूर करने के लिए तैयार है। एक से दु:ख ज्यादा देर तक हो रहा है, दूसरा उस दुःख को दूर करने का ज़रिया है। फिर आश्चर्य यह है कि जब पहला काँटा इस दूसरे काँटे की मदद से निकल जायगा तो दूसरा काँटा ख़ुद ही बेकार हो जायगा क्योंकि उसकी जरूरत तो पहले काँटे को निकालने तक थी, उसके बाद नहीं। मैंने कहा—माता जी, अगर एक काँटा अप्रिय इसलिए है कि वह दुःख देता है और दूसरा प्रिय इसलिए कि उससे पहला दुःख दूर होता है तो इसी तरह सांसारिक इच्छाएँ इसलिए दुखदायी हैं कि इनसे कष्ट होता है और यह भगवान् को भुला कर संसार की तरफ़ लगाती हैं। ईश्वरीय इच्छा इसलिए प्रिय है कि इससे इन इच्छाओं का काँटा निकल जाता है और उनसे आने वाले कष्ट भी जाते रहते हैं। ईश्वरीय इच्छा के काँटे को अव्वल तो काँटा कह ही नहीं सकते, क्योंकि इसकी शक्ल तो काँटे की है और काम फूलों का है और ख़ैर, अगर इसको 'इच्छा' कहा भी जावे तो भी यह अति प्रिय है; क्योंकि इसके आने से फिर और कुछ पाना बाक़ी नहीं रह जाता। इसलिए यह इच्छा इच्छा में शामिल नहीं है। जिस तरह जली हुई रस्सी बाँधती नहीं या स्वर्ण की तलवार मारने का काम नहीं करती, उसी तरह यह दैवी इच्छा बड़े भाग्य से मिलती है। यह बन्धन मे मनुष्य को नहीं लाती, उलटा उस बन्धन से निकालती है।

प्रश्न—जब ईश्वर की इच्छा हुई तो प्रेम का बन्धन तो पड़ ही गया; आप ख्वाह् उसे कुछ भी कहिए।

उत्तर—बन्धन किसको कहते हैं? वह जो हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारे सामने आवे। जब भगवद्भक्त को इस प्रेम के बन्धन में आनन्द आता है और वह इस बन्धन को माँग कर लेता है तो फिर यह बन्धन तो रहा ही नहीं; क्योंकि यह माँग कर लिया है। दूसरे, गहरी नजर से, बन्धन उसको भी कहते हैं कि जो सत् से हटा कर असत् में जोड़ दे; इसलिए भी यह इच्छा बन्धन नहीं, क्योंकि इससे न तो सत् से हटता है और न असत् से जुड़ता है। इसका आनन्द विचित्र है—निराला है।

चश्मे जानाँ और है चश्मे ग़ज़ालाँ और है।
वज़ए इनसाँ और है तरकीबे हैवाँ और है॥
गर किताँ उससे फटे इससे जिगर हो चाक-चाक।
माहेतावाँ और है रुखसारे जानाँ और हैं॥

अर्थात्—प्रिय प्रीतम के नेत्र और हैं, और हिरन के बच्चे के नेत्र और हैं। मनुष्य की बनावट और है और पशुओं की तरकीब और है। अगर चन्द्रमा के उदय होने पर कपड़ा फाड़ा जाता है तो प्रिय प्रीतम के चन्द्रमा सा मुखड़ा देखने से हृदय फटता है, इसलिए चन्द्रमा और है और प्रिय प्रीतम का चहरा और है। भावार्थ यह कि कहने को तो दोनों नेत्र ही हैं लेकिन प्रिय प्रीतम के नेत्र और हैं और हिरन के बच्चों के नेत्र और है। मनुष्य

और पशु दोनों जानदार तो हैं ही, लेकिन जो अधिकार जिज्ञासा और ईश्वर-प्राप्ति का इस मनुष्य-देह में है वह किसी और योनि में नहीं है। चन्द्रमा के उदय होने पर लोग पगड़ी में से धागा निकाल कर फेंकते हैं; गोया इस तरह उनका वस्त्र फटता है लेकिन प्रिय प्रीतम के चन्द्रमा समान मुखड़े को देखकर प्रेमी का हृदय फटता है, गोया चन्द्रमा की उपमा तो उस प्रीतम के चहरे को भी दी गई है। अन्तर यह है कि हैं तो दोनों चन्द्रमा ही, लेकिन एक से वस्त्र फटता है और दूसरे से हृदय। इसी तरह इच्छाएँ तो सब इच्छाएँ ही हैं—संसार की भी और ईश्वर-दर्शन की भी, लेकिन पहली इच्छाओं से मनुष्य बन्धन में जकड़ा जाता है और दूसरी इच्छा से बन्धन से आज़ाद होता है।

प्रश्न—ज़ंजीरें तो जंजीरें ही हैं, ख्वाह लोहे की हों या स्वर्ण की !

उत्तर—ठीक है। लेकिन यहाँ तो मामला ही और है। क्योंकि एक ज़ंजीर संसार से बाँधती है और दूसरी ईश्वर से। इसलिए एक से सब भागना चाहते हैं और दूसरी को सब लेना चाहते हैं।

प्रश्न—तो क्या स्वर्ग की इच्छा भी ठीक नहीं ?

उत्तर—हम कब कहते हैं कि ठीक नहीं ? नरक की इच्छा से तो स्वर्ग की इच्छा ठीक ही है; लेकिन ईश्वर-दर्शन की इच्छा की अपेक्षा से तो स्वर्ग की इच्छा को पूछता ही कौन है ? स्वर्ग में भी इन्द्रियों के भोग ही हैं, ज्यादा मिक्दार में मिल सकते हैं। बगैर तकलीफ के मिल सकते हैं। लेकिन जो उनको भोग (enjoy)

करता है या उनमें आनन्द लेता है उससे साफ साबित होता है कि अभी तक उसको स्वर्ग के नाशवान सुख का अनुभव नहीं हुआ। जो सुख इन्द्रियों और पदार्थों के भोग से प्राप्त होगा वह अवश्य परिणामी होगा, और जो परिणामी होगा वह अवश्य नाशवान होगा।

बाह्य सुख की इच्छा दो पुरुषों को होती है—एक उनको जिन्होंने आत्मिक सुख को अनुभव नहीं किया और दूसरे उनको जिनको यह मालूम ही नहीं कि बाह्य पदार्थों में आनन्द नहीं है। अगर किसी के पास खज़ाना हो तो वह कौड़ियों की इच्छा क्यों करने लगा ? या जिसको पता हो कि वहाँ। खज़ाना नहीं वह खज़ाना लेने जायगा ही क्यों ?

ब्रह्मज्ञानी को बाह्य पदार्थों से सुख की इच्छा इसलिए नहीं होती कि वह अपने आत्मिक सुख को अनुभव कर चुकता है और दूसरे इसलिए कि उसको मालूम है कि बाह्य पदार्थों मे सुख है ही नहीं, और अगर है भी तो क्या बादशाह या बादशाह का पुत्र किसी भिखारी से एक पैसा माँगने जायगा, जिसे उस भिखारी ने खुद किसी से माँग कर लिया है ? पदार्थों में आनन्द अपना तो है नहीं, माँगा हुआ (borrowed) है, फिर माँगने वाले से माँगना क्या अच्छा मालूम होता है ? और फिर उसको, जिसने खुद उसको पैसा दिया है उसी से माँगने चला जाय !

अब मोय फिर-फिर आवत हाँसी।
सुख सरूप हो सुख को ढूँढ़े जल में मीन पियासी ॥

ऐ मनुष्य ! तू आनन्द से बैठा है। तू हर तरह बेपरवाह है। तुझे किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं। जब तुझसे कोई पूछता है कि आपको कुछ चाहिए, तो तू कहता है कि नहीं—कुछ नहीं; हम हर तरह सन्तुष्ट हैं, हमको कुछ ज़रूरत नहीं। और अगर कोई इस हालत में आकर पूछता है कि आप सुखी तो हैं ? तो तू कहता है कि—

दिले दारम कि दरवै ग़म न गुञ्जद।
चः जाए ग़म कि शादी हम न गुञ्जद ॥

अर्थात्—मैं एक दिल रखता हूँ जिसमे दु:ख नहीं समा सकता। दु:ख-रञ्ज की तो बात ही क्या, उसमें सुख भी नहीं समाता। क्योंकि यह नियम है कि जहाँ सुख की इच्छा होगी वहाँ दु:ख से भय ज़रूर होगा और जहाँ दुःख से भय होगा वहाँ सुख की इच्छा ज़रूर होगी। सुख की इच्छा दो प्रकार के अज्ञान से पैदा होती है—एक तो अपने आत्मिक सुख के अज्ञान से और दूसरे, पदार्थों में आनन्द के अभाव के अज्ञान से।

प्रश्न—लेकिन यह अज्ञान क्यों होता है ?

उत्तर—आपको यह पूछने का कोई अधिकार नहीं। आपको केवल इतना पूछना चाहिए कि यह अज्ञान दूर कैसे होता है; क्योंकि यह अज्ञान केवल 'होता है'। अगर

आप इसकी खोज में निकलेंगे तो आपको अज्ञान दूर करने का मौका कौन-सा मिलेगा? क्योंकि एक दुखिया सिर्फ यही चाहता है कि उसका रोग जाता रहे। वह रोग कहाँ से और क्यों आया यह जानने की उसको क्या ज़रूरत है? यह काम तो डाक्टर का है या उसका कि जो डाक्टर बनना चाहता है। 'आत्मा में यह अज्ञान क्यों आया' इसको जानने की ज़रूरत जीवों को नहीं; क्योंकि वह तो दुःख से हटना चाहते हैं। उनके लिए तो इतना ही काफी है कि वह इस अज्ञान और उसके कार्य (पुत्र) दुःख को कैसे हटा सकते हैं। आत्मा में अज्ञान कहाँ से आया, यह बात या तो ईश्वर को मालूम है या उनको, जो ईश्वर की समीपता केवल इस बात के लिए चाहते हों कि वह अज्ञान के कारण से वाकिफ हों। अगर कोई ईश्वर की समीपता इसलिए चाहता है कि वह उससे अज्ञान का कारण पूछे तो भगवान् उससे पूछेंगे कि "तू अलहदा बनकर मुझसे इसका कारण पूछना चाहता है या 'मैं' बनकर? अगर अलहदा बनकर पूछना चाहता है तो यह दो वजह से मुश्किल है; एक तो तू उसको अनुभव न कर सकेगा और दूसरे मैं उसको बताऊँगा नहीं। क्योंकि अगर मेरा और तेरा ज्ञान बराबर हो जायगा तो तुझ में और मुझमें भेद ही क्या रहेगा? दो ईश्वर हो नहीं सकते, इसलिए अलहदा बनकर तो तू अनुभव नहीं कर सकता और मेरे साथ मिलकर ऐन 'मैं' हो जायगा फिर तेरे अनुभव का फ़ायदा ही क्या होगा? क्योंकि जब तक तेरी 'मैं' रहेगी, तू

समझ न सकेगा और जब समझने का समय आयेगा, तेरी 'मैं' ग़ायब हो जायगी। तेरा भाव तो यह है कि तू अपनी 'मैं' को रख कर इस भेद को समझे; परन्तु वह इस तरह पूरा न हो सकेगा। इसलिए तू जा और इस अज्ञान को दूर कर। इससे तुझको क्या कि यह कहाँ से आया और क्यों आया ? यह मेरा काम है, मुझको करने दे। तेरा काम है इस (अज्ञान) को दूर करना, तू अपना काम कर।"

लेकिन जिन लोगों को पता लग जाता है कि आनन्द हमारे अन्दर है या आनन्द बाहर नहीं है उनका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह फिर आनन्द के लिए कभी इन पदार्थों की तरफ नहीं जाते; ख्वाह पदार्थ सुख देने वाले स्वर्ग में हों या किसी और लोक में। जिसने जल की एक बूँद को समझ लिया उसने कुल समुद्र के तत्व को जान लिया। जिसने समझा कि देश काल में रहने वाले पदार्थों में सुख है ही नहीं फिर उसको इसकी कब परवाह है कि कितना बड़ा पदार्थ किस देश काल में है। वह तो जानते हैं कि बिन्दु (Zero) बिन्दु ही है चाहे वह बड़ा हो या छोटा !

एक महात्मा ने एक वकील साहब से पूछा कि आप क्या पढ़े हैं ? उन्होंने कहा कि law (लॉ); जिसके माने हैं कानून। इसके बाद वकील साहब पूछ बैठे कि महाराज, आप क्या पढ़े हैं ? महात्मा ने कहा कि 'ला'। वकील साहब ने पूछा कि क्या आप भी वकील हैं; जो आप लॉ पढ़े हैं ? तो उन्होंने कहा कि नहीं। वकील साहब ने पूछा कि जब आप 'लॉ' पढ़े हैं तो आप ज़रूर

वकील ही हुए। उन्होंने कहा कि नहीं, हम और लॉ पढ़े हैं। पूछा, वह कौन-सा है ? आप किसी और देश का लॉ पढ़े हैं ? उन्होंने कहा, हाँ और देश का लॉ है। वकील साहब ने पूछा, अगर हर्ज न हो तो बता दीजिए कि वह देश कौन-सा है। जवाब दिया, 'वह ब्रह्मलोक है। मैं वहाॅ का लॉ पढ़ा हूॅ।' वकील साहब ने बड़े अदब से पूछा—'महाराज, वहाॅ का लॉ क्या है, मैं भी जान सकता हूॅ ?' तो उन्होंने कहा—'हाँ, वहाॅ के law का भावार्थ यह है कि वहाॅ का क़ानून 'शून्य' है। वकील साहब ने कहा कि महाराज और साफ कीजिए ! तो उन्होंने कहा कि ला एक अरबी लफ्ज़ है, जिसका अर्थ है शून्य (nothingness)। वकील साहब ने पूछा—'ब्रह्मलोक का क़ानून शून्य है, इसका भावार्थ क्या है ?' तो महात्मा जी ने कहा कि वहाॅ का क़ानून यह है कि सत् एक है बाकी उसके अलावा सब शून्य है।

एक मेवाद्वितीयम् ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चिनः

अर्थात्—ब्रह्म केवल एक है और बाकी नानात्व अनेकता सब शून्य है यानी सिवाय सत् ब्रह्म के और कुछ है ही नहीं। या दूसरा भावार्थ यह है कि आनन्द पदार्थों में शून्य है; अगर है तो केवल ईश्वर में है। इसलिए ब्रह्मलोक का law यह है कि सिवाय सत के और न तो कुछ है और न ही कहीं आनन्द उसके बाहर है; और अगर कुछ है, जैसा कि आम लोग कहते हैं, तो वह सत के बिल्मुक़ाबिल (सामने) न होने के बराबर है। इसलिए

वकील साहब, हम केवल 'ला' पढ़े हैं। वकील साहब ने कहा, महाराज, इस तालीम का आप को क्या फायदा मिला है? उन्होंने जवाब दिया कि जब से हम इसको समझ बैठे हैं कि सिवाय ईश्वर के न तो दूसरा है और न उसके अलावा और कहीं आनन्द है उस रोज़ से हमने सिवाय सत् और ईश्वर के सब की इच्छा ही छोड़ दी है। उसका फायदा यह हुआ कि सत् और ईश्वर तो नित्य प्राप्त हैं ही, उनका वियोग होता नहीं है, और जो कष्ट सांसारिक इच्छाओं मे उलझने से होता था उससे भी बचे रहते हैं। इसलिए हमारा सुख नित्य है।

प्रश्न—ईश्वर नित्य-प्राप्त होने पर भी तो अप्राप्त से रहते हैं, फिर वह आपको बग़ैर 'मैं' के मिल गये हैं या 'मैं' से?

उत्तर—ईश्वर पर आवरण केवल हमारी वाह्य इच्छाओं का है। जब वह इस 'ला' के पढ़ने से जाता रहता है तो हमारी वहिर्मुख वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं और यही ईश्वर-दर्शन है। इसलिए हमको ईश्वर-दर्शन तो इस 'ला' के पढ़ने से हो रहे हैं।

प्रश्न—अगर दूसरे सिद्धान्ती लोगों के उसूल के मुताबिक मान लिया जावे कि संसार मे कुछ सुख भी है और संसार का अस्तित्व भी ईश्वर के साथ सत् है तो उस सूरत में सांसारिक इच्छाएँ बनी रहेंगी या नहीं?

उत्तर—अगर कोई सुख अल्प-सा है भी और किसी और सत् का अस्तित्व किसी अंश में कहीं है भी तो उसका होना ईश्वरीय सुख और उसके अस्तित्व के सामने न होने के बराबर हो जायगा।

सूर्योदय होने पर अगर मोमबत्ती घर मे पड़ी भी है तो उसको कौन जलायेगा; अगर अमृत का समुद्र पास है तो एक क़तरे (बूँद) की तलाश में कोई क्यों निकलेगा ? वकील साहब, हमको तो इस ला के पढ़ने से कि जो Law (कानून) इस 'ला' (शून्य) का है वड़ा आनन्द प्राप्त हुआ है।

एक शख़्स के रोग हो गया। उसने डॉक्टर को बुलवाया। डॉक्टर ने पूछा, आपको क्या रोग है ? उन्होंने कहा, सिर दर्द है। डॉक्टर ने दवा दी, मरीज़ को आराम आ गया। डॉक्टर साहब से मरीज़ ने कहा—'मेहरबान, मैं अच्छा हो गया; आपने मुझे सेहत दी।' डॉक्टर साहब, जो कि महात्मा-वृत्ति के थे, कहने लगे—'देखिए तन्दुरुस्ती तो आप का अपना हिस्सा है। मै आप को तन्दुरुस्ती नहीं दे सकता। मैंने तो आपकी बीमारी को दूर किया है !'

किसी माता का तकुला टेढ़ा हो गया। लुहार ने हथौड़ा मार कर उसे सीधा कर दिया। माता ने कहा—'शुक्रिया, आपने मेरे तकुले को सीधा कर दिया।' लेकिन लुहार बोला—'माता जी, यह सीधा तो पहले ही था, मैंने इसके टेढ़ेपन को हथौड़ा मार कर निकाल दिया है। आप जो सीधापन इसमे देख रही हैं वह तो इसका अपना जौहर या हिस्सा है।'

इसी तरह आत्मा मे तो शान्ति ही शान्ति है केवल इच्छा की बीमारी से उसका अभाव-सा हो जाता है। अब जो इस ला के Law को यानी 'नेहनानास्ति किञ्चिन.' के उसूल या दवा को

खा लेता है उसकी यह बीमारी दूर हो जाती है। नतीजा यह होता है कि मनुष्य को शान्ति मिल जाती है। शान्ति बाहर से नहीं आती, उसका अपना जौहर है। केवल इच्छा का रोग दूर होने से उसको अपना असली स्वरूप और उसकी शान्ति मिल जाती है।

वकील साहब ने पूछा—'क्या कोई चीज़ बाहर से नहीं आती ?' जवाब दिया—'जो बाहर से आयेगी वह बाहर चली जायगी। हम तो यह कोशिश करते हैं कि बाहर से आने वाली तमाम चीज़ों को बाहर ही रोक दिया जावे। जब बाहर की कुल चीज़ें बाहर रुक जायँगी तो अन्दर की शान्ति तो अपनी चीज़ है ही, वह तो केवल बाहर की चीजों के आने से रुकती है।'

आप जब सिनेमा देखने जाते हैं तो पर्दे पर तस्वीरें दौड़ा करती हैं। लेकिन फिल्म चल रहा हो और कुल दरवाज़ों और खिड़कियों से रोशनी अन्दर आने लगे तो तस्वीरें तो पर्दे पर रहेंगी, लेकिन नज़र न आयेंगी। अगर आप इन तस्वीरों को देखना चाहें तो केवल एक ही तरीका है कि तमाम दरवाज़ों, खिड़कियों और रोशनदानों को बन्द कर लें ताकि उनसे अन्दर आने वाली रोशनी बन्द हो जाय। जब बाहर से अन्दर आने वाली रोशनी बन्द हो जायगी तो अन्दर की रोशनी उन तमाम तस्वीरों को लेकर पर्दे पर अपना खेल करने लगेगी।

इसी तरह जब हम अपने मन और इन्द्रियों के सूराखों से बाह्य संसार की इच्छाओं की रोशनी को अपने अन्तःकरण के पर्दे पर पड़ने नहीं देते, उनको बाहर ही रोक देते हैं तो हमारे आत्मा की रोशनी अपनी तमाम ख़ूबियों—शान्ति आदि को लेकर अन्तःकरण के पर्दे पर रोशन हो जाती है और हम एक ऐसे सुन्दर फिल्म को चलता वहाँ देखते हैं, जिसके बाद फिर और कुछ देखने की इच्छा ही नहीं रहती। सारांश यह कि बाहर की इच्छाओं को रोक देने से अन्दर का प्रकाश—शान्ति सामने आ जाती है। आख़िरकार वकील साहब चले गये और उन्होंने उस ब्रह्मलोक के ला को पढ़ा और उस पर अमल किया और चन्द ही रोज़ के बाद वे एक बड़े भारी शान्त महात्मा बन गये! महात्मा का अर्थ है महान्+आत्मा—जिसकी आत्मा बड़ी हो।

प्रश्न—क्या इसका मतलब यह है कि किसी की आत्मा बड़ी और किसी की छोटी होती है?

उत्तर—नहीं। महान् आत्मा का भावार्थ यह है कि जिसके अन्दर बाह्य पदार्थों का प्रकाश कम पड़ता है और उनकी इच्छाएँ कम पैदा होती हैं; या जो अपने आत्म-सुख को ज्यादा अनुभव कर सकता है वही महात्मा है। सारांश यह कि बाह्य पदार्थों और उनकी इच्छाओं से अपना मन रोकना अपने आत्मिक सुख को अनुभव कराता है। बाह्य प्रकाश को रोकना तो बाह्य इच्छाओं को छोड़ना है और वह इस उसूल से कि 'नेहनानास्ति किञ्चिन' यानी उन सुखों में कोई सुख है ही नहीं। लेकिन इन इच्छाओं

का रोकना भी सिद्ध करता है कि हमारे अन्दर कोई और इच्छा है और वह इच्छा है ईश्वर-दर्शन या आत्मिक सुख की। वह उसी समय प्राप्त हो जाती है, जब बाह्य वृत्तियों से मन अलहदा हो जाता है। इसलिए ईश्वर-दर्शन की इच्छा न तो 'इच्छा' में शामिल है और न इससे कोई नुक़सान ही होता है। इसके अलावा बाक़ी तमाम इच्छाएँ बन्धन का कारण हैं।

अब यह तो सिद्ध हो ही गया कि अव्वल तो सुख बाहर है नहीं, और अगर है तो अपने आन्तरिक सुख के मुकाबिले पर न होने के बराबर है, इसलिए इच्छा दोनों ही हालतों में बाह्य पदार्थों के लिए नहीं रह सकती। अगर यह जानने पर भी रहती है तो या तो अभी पहली बात समझ नहीं आई या दूसरी का पता नहीं चला। गुरु नानक जी ने फ़रमाया है—

प्रभ को सिमरे से वे मोहताजे।
प्रभ को सिमरे से सरब के राजे॥

अर्थात्—प्रभु के स्मरण से एक तो मनुष्य बेमुहताज हो जाता है और दूसरे सब का राजा बन जाता है। जिसका भावार्थ यह है कि जो प्रभु को सुख की खान समझ लेता है वह फिर किसी और चीज़ की इच्छा कर ही नहीं सकता। सब का राजा यानी जो कुछ नज़र आता है, या जो कुछ संसार में दृश्य है उसका राजा तो केवल ईश्वर ही हो सकता है; लेकिन जो उस प्रभु के

समीप हो जाता है उसमें ईश्वर की उदारता के गुण प्रतिविम्बित हो जाते हैं जिससे यह रज जाता है; यानी इसके अन्दर से कुल इच्छाओं का अत्यन्त अभाव हो जाता है। यह है ईश्वर-दर्शन और उसकी इच्छा के फायदे। इससे पहले जो कुछ लिखा है वह है सांसारिक इच्छाओं का दुःख, जो या तो ईश्वर को भूल कर आती हैं या पदार्थों के वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से।

प्रश्न—ईश्वर के भूलने से कुल कष्ट आ जाते हैं; इसका क्या प्रमाण है?

परमेश्वर तों भुल्लियाँ व्यापन सभ्भे रोग ॥

उत्तर—जब हम भगवान् को भूलते हैं तो हमारे सामने संसार एक स्वतन्त्र रूप में आ जाता है। गोया हम ऐसा अनुभव करते हैं कि जो हमारे सामने चलती-फिरती दुनिया है और जो उसके कार्यरूप पदार्थ हैं उनका कर्ता कोई नहीं, उनका मुन्तज़िम कोई नहीं, हमारा रखवाला कोई नहीं; हम अकेले हैं और अगर चन्द आदमी हैं भी तो वह भी बिलमुकाबिल संसार के कुछ नहीं हैं। इसलिए इस स्वतन्त्र संसार को देख कर उसके पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा पैदा हो जाती है। जिसका नतीजा यह होता है कि मनुष्य में सब्र, इस्तकलाल और शुक्र का मादा ही नहीं रहता। वह जानता है कि अगर मैंने कोई प्रयत्न न किया तो मुझे मिलेगा ही कुछ नहीं और अगर मिले की हिफाज़त न की तो मेरा सर्वस्व नष्ट हो जायगा।

गोया इस भाव से वह संसार को हासिल करने के लिए भटकता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसको सत् और असत् का भी ध्यान नहीं रहता। वह सत् से काम ले तो क्यों और किस को ख़ुश करने के लिए; जब कि उसे मालूम है कि सत् से उसका तमाम कार्य बिगड़ जायगा। उसका सत् तो संसार को इकट्ठा करना है, जिस भी तरीके से वह कर सके। वह असत् से दौड़े तो क्यों ? उसको कौन सजा देने वाला है ? वह जानता है कि सत् और असत् की बातें कपोल-कल्पित हैं, इनसे अपने मन को कमज़ोर नहीं बनाना चाहिए। जिस तरह भी हो, संसार को इकट्ठा करते जाओ और उसके लिए हर मुमकिन कोशिश—सत् और असत् को बर्तते जाओ। इनका सिद्धान्त सत् नहीं रहता बल्कि दुनिया को हासिल करना होता है।

इसके अलावा जब यह ईश्वर को नहीं देखते तो इनकी स्वाभाविक लगन (attachment) सांसारिक पदार्थों की तरफ हो जाती है। इस संयोग से वह अपना मन उन नाशवान पदार्थों को दे बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि यह पदार्थ परिणामी (changeable) होते हैं, इससे उस मन को भी साथ साथ बद-लना पड़ता है। चूँकि मन एक जगह बैठने का आदी हो जाता है इसलिए दूसरी अवस्था के यकलख़्त आने पर उससे इत्तफाक पैदा नहीं कर सकता; इसलिए घबराता है।

तअल्लुक हजाबस्तो बे हासली।
चूँ पेवन्दहा बिगुसली वासली॥

अर्थात्—तेरा यह सांसारिक सम्बन्ध बेहासिल, बेफायदा है, तेरे और ईश्वर के दरम्यान एक ज़बर्दस्त परदा है; लेकिन जब तू इस सम्बन्ध को तोड़ देगा तो उसी समय ईश्वर से मिल जायगा।

राग-द्वेष, दुःख-सुख, अपना-बेगाना, मरना-जीना, पाना-खोना, रंज-फ़िकर और गम के भाव ईश्वर के भूलते ही पैदा हो जाते हैं।

वेदान्त की दृष्टि से संसार है क्या? केवल ईश्वर को अनुभव न करना। और संसार है असत्, जड़, दुःखरूप; इसलिए अगर कोई शख़्स भगवान् की तरफ देखता रहे तो फिर उसको इस असत् जड़ दुःखरूप संसार की प्रतीति ही कैसे हो सकती है। जब यह प्रतीति ही न होगी तो इस प्रतीति का दुःख भी क्यों होगा? अगर किसी ने रस्सी को असली मानों में समझ लिया है तो उसको साँप का भय क्योंकर हो सकता है? यह अनुभव की बात है। जो मनुष्य अपने मन को भगवान् मे जोड़ सकता है उसको कभी कोई कष्ट नहीं हो सकता। कुरान शरीफ मे भी लिखा है कि 'जो मालिके हकीकी के बच्चे या बन्दे हैं उन पर चौबीस घण्टे में कभी गम नहीं आ सकता।' जो फूल को देखता है वह काँटे को नहीं देख सकता, जो पूर्णिमा के चन्द्रमा को देख रहा है और उसके पूर्ण प्रकाश मे लगा है उसको उसके दाग की तरफ देखने की फ़ुरसत ही कहाँ है? जो मोहब्बत को देखता है वह नफ़रत को देख ही नहीं सकता। भगवान् कृष्ण ने भी गीता मे आज्ञा की है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी माम् नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे ॥

अर्थात्—तू मेरा बन जा, मेरा भक्त बन और मुझको नमस्कार कर, फिर तू मुझ ही में समा जायगा। मै तुझको सत्य कहता हूँ क्योंकि तू मेरा प्यारा है। इसका भावार्थ यह है कि मै यानी वह 'मैं' कि जो परिच्छिन्नता Limitation और अपेक्षा से रहित है या वह 'मै' कि जिसको कोई 'वह' और कोई 'तू' और कोई 'यह' और कोई 'मैं' कह सकता है या जिसका दूसरा नाम परमेश्वर या ईश्वर है, तू अपने मन को उसमें जोड़ दे फिर तुझको कोई दु:ख न रहेगा और तू उसमें ही लीन हो जायगा। यह शब्द मैं तुझसे इस लिए कह रहा हूँ कि तू मुझ को अत्यन्त प्रिय है।

वेदान्त की दृष्टि से संसार मे दो पदार्थ हैं—एक ब्रह्म और दूसरे माया। ब्रह्म तो अस्ति भाति प्रिय रूप से सब जगह ओतप्रोत और विराजमान है और माया नामरूप को लेकर कहीं उस ब्रह्म को छिपाती है और कही उसको प्रकट करती है। अब वेदान्त का सिद्धान्त है कि तमाम द्वैत, गैरियत, अनेकता नामरूप में है जो माया का विकार है, और तमाम अद्वैत उस ब्रह्म मे है जो अस्ति भाति प्रिय रूप से सब जगह विराजमान है।

वेदान्त का कहना है कि उस ब्रह्म के अस्तित्व के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही। क्योंकि सूर्य को कोई दूसरी रोशनी दिखा नहीं सकती; वह केवल अपने ही प्रकाश से नजर आता है।

है ब्रह्म अस्तिमात्र है; यानी 'है' जिसे अँग्रेज़ी में Is-ness कह सकते हैं। जो 'है' उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता क्या हो सकती है क्योंकि जो इसका प्रमाण बनेगा वह या तो 'है' होगा या 'नहीं'। अगर 'है' हुआ तो 'है' तो वह पहले ही है और अगर 'नहीं' है तो फिर उसका प्रमाण ही किस तरह मिलेगा ? चूँकि वह बेमोहताज, बेपरवाह है, वह किसी से कुछ नहीं लेता, सब को सब कुछ देता है इसलिए वह इसका भी मोहताज नहीं कि उसके अस्तित्व को कायम करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता हो। कुल प्रमाण उसके अस्तित्व के मोहताज हैं। प्रमाण लेने की आवश्यकता, स्वयं प्रमाण और प्रमाण देने वाला सब उसी अस्ति मात्र ब्रह्म के मोहताज हैं।

देखिये, उसकी 'है' अगर प्रमाण के रूप में किसी की मोहताज नहीं है तो भी उसकी 'है' 'नहीं' की अपेक्षा से कायम होती है ? यह गलत है क्योंकि 'नहीं' तो कोई वस्तु ही नहीं जिसकी अपेक्षा से वह कायम हो। हाँ, उलटा 'नहीं' उसकी अपेक्षा से क़ायम होती है। क्योंकि अगर 'नहीं' पहले होती तो 'है' फिर कभी आता ही नहीं, 'चूँकि ऐसे 'है' की शून्य से तो उत्पति हो न सकती, इसलिए 'है' से पहले 'नहीं' नहीं हो सकती। हाँ, 'है' के बाद 'नहीं' शब्द का अस्तित्व इसलिए कायम हुआ कि 'है' है, इसके अलावा और कुछ भी नहीं। दूसरे शब्दों में, जब पहिले कोई वस्तु हो और फिर वह उस जगह न रहे तो मालूम होता है कि अब वह चीज़ उस जगह नहीं है।

अगर कोई चीज़ हुई ही न हो तो उसके न होने का इल्म कैसे होता ?

प्रश्न—जब एक चीज़ बनती है तो वह 'है' कहलाती है। इस लिए भी तो पता लग जाता है कि वह चीज पहले न थी तभी तो अब है ?

उत्तर—यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यह बात भी तो एकदेशी पदार्थ के लिए है, न कि उसके लिए जो उत्पत्ति से रहित है। अगर ब्रह्म को कि जो 'है', उत्पत्ति वाला मानें तो उसका कारण या तो 'है' होगा या 'नहीं'। अगर 'है' हुआ तो 'है' तो वह ख़ुद आप है और अगर 'नहीं' तो 'नहीं' कोई चीज़ नहीं कि जिससे 'है' पैदा हो। इसलिए उसका कारण कोई नहीं बन सकता। अगर उसका कोई कारण होता तो हम उस कारण को ब्रह्म कहते। और फिर लामहदूद (अपरिच्छिन्न, असीमित) पदार्थ का कारण बन नहीं सकता, क्योंकि 'कारण' अपना 'कार्य' पैदा करने के बाद 'कारण' कहलाता है।

'कारण' 'कार्य' वहाँ पैदा कर सकता है जहाँ कोई भी देश तब्दीली के लिए हो वरना तब्दीली न होगी। जब तब्दीली न होगी, शकल न बनेगी। उस तब्दीली का होना देश काल ही से हो सकता है; क्योंकि किसी 'देश' में तब्दीली हुई और जितनी देर में हुई या एक शकल बिगड़ कर दूसरी बनी उतनी देर का नाम 'काल' है। इसलिए ब्रह्म से पहले देश काल मानना

पड़ेंगे जो कि ख़ुद Limited परिच्छिन्न और परिणामी हैं। देश काल की स्थिति बग़ैर चेतन सत्ता के हो नहीं सकती। यह देश काल ख़ुद जड़ हैं, अगर ये चेतन होते तो अपने हर एक परिणाम को अनुभव कर सकते; इसलिए जो इनका जानने वाला होगा वह इनसे अलहदा होगा। पस, जिसने इनको जाना वह इन जाने हुए पदार्थों का 'कार्य' नही हो सकता और दूसरे जो असीमित और लामहदूद है वह कभी 'उत्पन्न' हो ही नही सकता। अब जब वह उत्पत्ति से रहित है फिर वह 'है' ही है, इसलिए उससे पहले 'नही' की कल्पना हम कायम नहीं कर सकते। यहाँ तक कि 'नहीं' भी बगैर 'है' के कायम नहीं हो सकती। आप कहते हैं वह नहीं है, यह नहीं है, मै नहीं हूँ, तू नही है वगैरह। गोया 'नहीं' तो दो चीजों से बनी है—एक तो उस पदार्थ से, जिसके न होने का नाम 'नहीं' है और फिर अगर 'नहीं' का अस्तित्व 'है' से कायम न हो तो 'नही' भी नही रह सकती, क्योंकि यह कहना पड़ता है कि वह नहीं है, इसलिए 'नहीं' भी इस 'है' ही से कायम है। अगर आप 'नही' के साथ 'है' नहीं लगाते तो 'नहीं' नहीं हो जाती है जिसके माने यह हुए कि जिस 'नहीं' के होने पर आप इतना ज़ोर दे रहे थे वह 'नही' भी नहीं है। जब वह 'नहीं' ही नहीं है तो फिर उसकी अपेक्षा से 'है' का अस्तित्व कायम करना माने ही क्या रखता है? जो चीज़ है ही नहीं, उससे किसी को अपेक्षा देना व्यर्थ है।

अव्वल तो 'नहीं' है ही नहीं; इसका शब्द ही उसके अत्यन्त अभाव को सिद्ध करता है, लेकिन अगर आप for argument's sake यानी युक्ति के तौर पर यह मान भी ले कि वह है, तो उसको जब तक आप 'है' का सहारा न देंगे तब तक वह कायम न होगी, इसलिए नित्य 'है' की अपेक्षा से ही 'नहीं' का अस्तित्व भी कायम होता है। पस वह 'है' ऐसा ज़बर्दस्त है कि किसी का मोहताज नहीं और कुल पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए उसके मोहताज हैं।

वह अस्तिमात्र है—वह सारे है। उस अस्तिमात्र को बयान करना उसके साथ द्वैत को कायम कर देना है। पस, द्वैत क्या है? ब्रह्म को बयान करने की कोशिश करना। माया क्या है? ब्रह्म को बुद्धि में लाना। 'वह सारे है' यह कहना ही 'दो' कायम कर देता है; 'वह एक है' इतने ही से 'दूसरे' की कल्पना हो जाती है। 'वह ज्ञानस्वरूप है' इसी से अज्ञान की कल्पना हो जाती है। जिस वक्त आप उस In-expressible अनिर्वचनीय को कोई एक बात या गुण दे देते हैं उसी समय दूसरा गुण उसके विपरीत पैदा हो जाता है, और यही संसार की उत्पत्ति है।

वह सच्चिदानन्द है इसीलिए तो माया असत् जड़ दुःख रूप है। अब असत् जड़ दुःख रूप का स्वरूप क्या है? उसका सच्चिदानन्द होना या सच्चिदानन्द के गुणों का बुद्धि के सामने आना। जब यह गुण बुद्धि के सामने आये तो झट उनके ख़िलाफ़ गुण अपने आप पैदा हो गये, क्योंकि असत् सत् की अपेक्षा से कायम हो

गया, जड़ चेतन की अपेक्षा से और दुःखरूप आनन्द की अपेक्षा से। यह है माया। 'वह सच्चिदानन्द स्वरूप है' जिसको इस बात का ज्ञान हुआ उसको इस बात का भी ज्ञान हो गया कि वहाँ कोई असत् जड़ दु:खरूप पदार्थ भी हैं लेकिन उनका वास्तविक स्वरूप कुछ नहीं। यह सब Negative form या नास्ति रूप में अपने गुणों को प्रकट कर रहे हैं। यानी असत् क्या है? जो सत् नहीं। जड़ क्या है? जो चेतन नहीं। दु:खरूप क्या है? जो आनन्द स्वरूप नहीं। इसलिए सत् चित् आनन्द स्वरूप के साथ असत् जड़ दुःखरूप गुण नास्ति रूप में प्रकट हो रहे हैं।

प्रश्न—लेकिन 'न होना' तो कभी प्रकट नहीं हो सकता। यहाँ यह 'न होना' किस तरह प्रकट हो रहा है?

उत्तर—इस 'न होने' में 'न होना' प्रकट नहीं हो रहा बल्कि उस 'होने' या 'है' के आभास मात्र से इस कल्पित 'न होने' का अस्तित्व कायम हो रहा है। अतएव बिलकुल असत् तो इसलिए नहीं कि सत् का आभास इसमें शामिल है, और सत् इसलिए नहीं कि सत् के यह विपरीत है। पस, माया क्या है? बुद्धि को सत् चित् आनन्द का सापेक्षिक ज्ञान होना। जब तक सच्चिदानन्द का भान होता रहेगा, कल्पित, असत्, जड़त्व और दुःख रूपता का भान भी बना रहेगा।

खैर, हम इस समय इस बात को यहीं छोड़ते हैं और अपने अस्ति मात्र ब्रह्म की तरफ चलते हैं कि उसके अस्तित्व को कायम करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता है या नहीं।

अगर उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता होती तो वह ब्रह्म न होता, वह मोहताज होता, इसलिए वह बग़ैर आवश्यकता प्रमाण के कायम हो रहा है। 'वह है' इसका ज्ञान स्वभावतः सबको होता है। यह अलहदा बात है, हम समझें या न समझें कि हम उसको अनुभव कर रहे हैं; लेकिन अनुभव हम उसी को करते हैं। हम अपनी 'मैं' को समझें या न समझें, लेकिन हमको 'मैं' का ज्ञान स्वभावतः हर समय ही रहता है; क्योंकि जब तक हम 'मैं' को अनुभव न करें हम किसी और पदार्थ को अनुभव कर ही नहीं सकते। 'मैं' के प्रकाश से पदार्थों के अज्ञान का अन्धकार उड़ता है और उनका ज्ञान होता है। जिस तरह 'मैं' को बुद्धि में लायें या न लायें कि 'मैं हूँ' तो भी हमको अपनी 'मैं' का स्वभावतः ज्ञान बना ही रहता है, इसी तरह इस अस्ति-मात्र ब्रह्म को हम बुद्धि से सब जगह देखें या न देखें, उसका अस्तित्व क़ायम ही रहता है। लेकिन जब हम उस अस्तिमात्र ब्रह्म को जानना चाहते हैं तो ज़रा-सी कल्पना से भी हम को उसका दर्शन हो जाता है; क्योंकि हमारे सामने जितना भी दृश्य है उसमें यह अस्तिमात्रता सब में ओतप्रोत हो रही है। कोई चीज़ ऐसी नहीं कि जो न हो; और जो एकदेशी चीज़ें हैं—एक जगह होती हैं फिर वहाँ नहीं रहतीं—वह भी अस्तिमात्रता से ख़ाली नहीं, क्योंकि अगर वह यहाँ नही तो वहाँ होंगी। इस अस्तिमात्र के लिए किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं; क्योंकि मैं पहले लिख चुका हूँ कि इस अस्तिमात्र के बग़ैर तो 'प्रमाण' का प्रमाण भी

नहीं मिल सकता। अब आपके सामने 'है' तो एक ऐसी चीज़ है जिसको आप छोड़ ही नहीं सकते और वह एक स्वतन्त्र पदार्थ नाश से रहित है। आप कितनी भी कोशिश करें इस 'है' को आप गुम नहीं कर सकते, क्योंकि एक चीज को तोड़ने पर भी उस टूटी चीज़ में उस अस्तिमात्रता का भान उसी ज़ोर से होता ही रहेगा बल्कि तोड़ने वाले का वजूद ही उसकी अस्तिमात्रता का प्रमाण बन जायगा। इसलिए अस्तिमात्रता एक स्वतन्त्र पदार्थ है।

अब यह हमारे सामने नामरूप के लिबास में प्रकट हो रही है, क्योंकि यह नियम है कि जब वह नामरूप से बाहर हो जाती है तो बुद्धि और इन्द्रियों का विषय नहीं रहती और वहाँ ज्ञाता ज्ञान-ज्ञेय भाव की त्रिपुटी भी जाती रहती है। इसलिए इन नाम-रूपों में वह ओत-प्रोत होकर हमारे सामने है जिससे किसी को भी इन्कार नहीं हो सकता। जो इन्कार करेगा उसका इन्कार ही उसकी हस्ती का सबूत बन जायगा। अब जो आपके सामने अस्तिमात्रता है (सामने शब्द से तात्पर्य यह है कि जो आपके ज्ञान में अस्तिमात्रता है, ख्वाह वह आपका अपना आप है या कुछ और) उसमें एक प्रश्न हो सकता है कि वह अस्तिमात्रता माया की है या ब्रह्म की—दुनिया की या भगवान् की ? उसका उत्तर यह है कि अस्तिमात्रता तो केवल भगवान् (ब्रह्म) की ही हो सकती है, जो सत् है। यदि कहें कि नहीं, माया भी तो नामरूप वाली है, उसका अस्तित्व भी तो होना चाहिए; इसलिए उसके अस्तित्व और सत् ब्रह्म की अस्तिमात्रता में कैसे फैसला किया

जावे ? तो उसका उत्तर यह है कि जब हम ब्रह्म की वास्तविक अस्तिमात्रता और गहरी अस्तिमात्रता की तरफ़ चलते हैं तो माया का अस्तित्व ही उड़ जाता है; क्योंकि उसकी गहरी अस्ति-मात्रता में तमाम नामरूप भी अपनी अस्तिमात्रता को उसके सहारे क़ायम करते हैं। या यों कहिए कि जो अस्तिमात्रता नामरूप में भी प्रकट हो रही है वह भी उसी 'है' की है; क्योंकि वह असीमित और बेहद तो इसलिए है कि उसको हम कहीं भी ख़त्म होता न देख सकें। अगर नामरूप की अस्तिमात्रता उसकी अस्तिमात्रता को महदूद कर दे तो वह लामहदूद महदूद बन जायगा; और यह ग़लत है। इसलिए नामरूप में प्रगट होने वाला अस्तित्व तो केवल ब्रह्म का है जो अस्तिमात्र है।

प्रश्न—अच्छा नामरूप का जब अस्तित्व ही नहीं तो फिर वह नास्ति हुए, और जब नास्ति हैं तो उनका ज़िक्र ही क्यों है ?

उत्तर—वह अस्तिमात्र तो हैं ही नहीं, वह नास्ति ही हैं। लेकिन उनका (नामरूप का) अस्तित्व ब्रह्म के अस्तित्व के आधार पर ब्रह्म की अपनी ही माया से कायम हो गया है, इसलिए उनका अस्तित्व भी कुछ समय तक नाममात्र के लिए मान लिया गया है, वरना उनका अलहदा अस्तित्व तो कुछ है ही नहीं।

आप के हाथ में एक मरहट्टी है (एक लकड़ी के सिरे पर कपड़े का एक गोला बना कर उसमें तेल डाल कर आग लगा दी जाती है और उसे घुमाया जाता है)। आप उसको घुमाते हैं।

उस आग की कई शक्लें बनती जाती हैं—कभी चक्कर, कभी गोला, कभी टेढ़ा, कभी सीधा, कभी फूल और कभी माला आदि। अब देखना यह है कि उस मरहट्टी ज्वाला में उन भिन्न-भिन्न नामरूपों का अस्तित्व सत् है या असत्। अगर सत कहें तो नाश क्यों होता है और अगर असत् कहें तो नज़र ही क्यों आता है? आप कहेंगे कि अग्नि में हरकत से वह नामरूप प्रकट हो जाते हैं जिनका वास्तविक कोई स्वरूप नहीं, या उस मरहट्टी ज्वाला से अलहदा उनका नामरूप कुछ है ही नहीं। केवल उस अग्नि मे हरकत का शामिल हो जाना ही नामरूप को पैदा कर लेता है।

इसी तरह ब्रह्म मे इस नामरूप माया का वास्तविक और अलहदा अस्तित्व कुछ है नहीं। जिस तरह उस अग्नि के आश्रित उस अग्नि ही में प्रकट होने वाले और नाश होने वाले नामरूपों का अस्तित्व उस अग्नि ही के अस्तित्व का एक चमत्कार या दिखावा है, उसी तरह ब्रह्म में ब्रह्म ही की लीला के शामिल होने का नाम यह नामरूप जगत या माया है, जो नामरूप माया उससे उत्पन्न होकर उसी के आश्रित रहती हुई उसी में लीन हो जाती है। जिस तरह अग्नि के भिन्न-भिन्न नामरूप अग्नि में न तो कुछ बढ़ाते हैं और न कुछ घटाते ही हैं, उसी तरह ब्रह्म मे नामरूप माया न तो कुछ घटाती है और न कुछ बढ़ाती है। दिखाती सब कुछ है लेकिन है कुछ नहीं, पसारा इतना है लेकिन पसारा हुआ कभी है नहीं। जब तक

यह खेल चल रहा है यह माया अपनी जगह पर एक सत् पदार्थ है लेकिन जब ब्रह्म की दृष्टि से इसको देखा जाता है तो यह हमेशा के लिए न तो हुई होती है और न ही रहती है।

इसलिए अस्तिमात्र ब्रह्म ही सामने है, जिसको योगी लोग बगैर नाम रूप के अनुभव करते हैं और संसारी पुरुष मन इन्द्रियों के ज़रिये नामरूप जगत में देखते हैं। उस ब्रह्म को इन्द्रियों द्वारा देखा जावे तो वह जगत हो जाता है और जब बगैर मन, इन्द्रियों और बुद्धि के देखा जावे तो वही केवल ब्रह्म होता है।

वह अस्तिमात्र है।

वह भाति है; यानी उसका ज्ञान स्वभावतः सबको होता ही रहता है।

वह प्रिय रूप है; क्योंकि वह सब की अन्तरात्मा की आत्मा है इसलिए वह सबको प्रिय है। पदार्थों में आकर्षण भी उसी का है। और जो अप्रिय अवस्था का भान होता है वह केवल इस-लिए कि हम उसके वास्तविक स्वरूप को कभी माया के नामरूप में नहीं देख सकते। अगर कोई उसको माया के सात्विक लिबास में हर जगह देख सके तो फिर उसकी प्रिय अवस्था का अनुभव फ़ौरन ही होने लगता है।

इसलिए वह है, और उसका पता लगता है और वह आनन्द स्वरूप है।

जो उसको इस अनेकता मे एकता के रूप में अनुभव करता है उसको हर समय आनन्द ही आनन्द रहता है; क्योंकि वह

अपने-बेगाने, दोस्त-दुश्मन, नफ़ा-नुक़सान, ज़िन्दगी-मौत, संयोग-वियोग में उसी अस्तिमात्र ब्रह्म को अनुभव करता रहता है और वह जानता है कि जो सत् है वह तो कभी जुदा हो नहीं सकता, वह संयोग-वियोग से बाहर है; और जो नामरूप हैं वह हैं ही नहीं, इसलिए उनमें संयोग-वियोग बनता ही नहीं और न उनके नाश से दुःख ही होता है क्योंकि वह पहले ही असत् थे। इस तरह ब्रह्मज्ञानी का मन कभी हिलता नहीं और वह सहज स्वभाव ही में रहता है।

लेकिन वेदान्त का कहना है कि जो उस ब्रह्मरूपी एकता को भूल जाता है वह माया की अनेकता के जाल में उसको सत् समझ कर फँस जाता है। नतीजा यह होता है कि वह राग-द्वेष, दुःख-सुख, अपने-बेगाने, नफ़ा-नुक़सान, बन्धन और मोक्ष के चक्कर में फँस जाता है और फिर उस समय तक इसकी पीड़ा से बाहर नहीं होता, जब तक ब्रह्म तत्व को पहचान न ले। इसलिए दुःख क्या चीज है? उस ब्रह्म तत्व को भूल जाना और इस माया के चक्कर में फँस जाना।

प्रश्न—वहम से इतना दुःख क्यों हो सकता है?

उत्तर—आपने एक रस्सी अपने हाथ से अपने घर में लाकर रखी कि उससे बिस्तर बाँध कर स्टेशन जायँगे। आते ही आप को यह भ्रम हो गया कि वहाँ साँप है, रस्सी नहीं। आप रस्सी को किसी कारण से भूल गये। अब आप मारे डर के घर से बाहर भाग गये। बाहर बारिश और ओले पड़ रहे हैं। आप मारे

डर के घर मे नहीं आते। जब लोग आप को इस तरह खड़ा देखते हैं और पूछते हैं कि आप अन्दर क्यों नहीं जाते तो आप कहते हैं कि अन्दर तो साँप है, मैं जाऊँ कैसे ? वह आपको एक साँप पकड़ने वाले का पता बता देते हैं। आप उसकी तरफ़ दौड़ते हैं, क्योंकि आपकी गाड़ी में देर हो रही है। इतने में आपका बटुआ गिर जाता है और आप को खबर तक नहीं होती। आप साँप पकड़ने वाले के पास पहुँचे। वह साथ आया और घर मे दाखिल हो कर पूछने लगा कि डरो नहीं, बताओ तो सही साँप है कहाँ ? आपने मारे डर के दरवाज़े से बता दिया कि वह है वह ! जल्दी कीजिए और इसे पकड़ लीजिए; हमको जल्दी स्टेशन जाना है। सँपेरा निडरता से अन्दर गया तो क्या देखता है कि वहाँ तो रस्सी है, साँप का नाम भी नहीं। उसने आवाज़ देकर पूछा कि साँप है कहाँ, क्या वह चला गया ? आपने फिर दूर से देखकर कहा—नहीं, वह है वह ! पकड़ते क्यों नही ? उसने कहा कि साँप हो तो पकड़ूँ, यहाँ तो साँप है ही नहीं। आपने पूछा—तो फिर है क्या ? उसने कहा कि रस्सी है रस्सी, और क्या ! आप चौकन्ने हो गये और कहने लगे—'हाय भूल ! अपने हाथ से तो रस्सी लाकर रखी और आप ही भूल कर उसको साँप समझने लगा।' अब वह साँप पकड़ने वाला पैसे माँगने लगा। आपने जेब में हाथ डाला तो बटुआ गायब ! उससे उधार को कहा तो वह मानता नही ! उससे लड़ाई हो गई। उधर गाड़ी में देर हो गई। आपको जहाँ वक़्

पर पहुँचना था न पहुँच सके; नतीजे में बड़ा नुक़सान हुआ। आप ग़ौर से देखें तो मालूम होता है कि इस तमाम कष्ट, दौड़-धूप और नुक़सान का कारण केवल वहम था या रस्सी से भूल थी।

इसी तरह जब मनुष्य प्रभु (राम) को भूल जाता है तो संसार का साँप (मार) उसके गले में लटकने लगता है; जिससे वह भय-भीत होता है, रोता-चिल्लाता है और शान्ति को ढूँढ़ता फिरता है। लेकिन जब कोई उससे आकर कहता है कि देखो सामने तो प्रभु हैं—राम हैं, मार है ही कहाँ, तो झट उसको याद आ जाती है कि सत्ता तो केवल एक है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में फरमाया है—

यो माम् पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याऽहम् न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

अर्थात्—'जो मुझको सब में और सब को मुझमें देखता है मैं उससे जुदा नहीं रहता। यहाँ तक कि जो मुझको ही मुझ में देखता है मैं उससे जुदा नहीं रहता।'

एक आदमी को मास खाने का बहुत शौक़ था। वह रोज़ एक सेर मांस खाता था। उसकी स्त्री अगर्चे मास तो न खाती थी लेकिन उसके लिए ज़रूर बना दिया करती थी। उसका पति शौक से आकर खाया करता था। एक दिन स्त्री को ख़्याल आया कि मैं भी खाकर देखूँ कि मांस का स्वाद है क्या, जिसको

पतिदेव रोज़ खाया करते हैं। उसने चोरी से छिप कर मांस को खाना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि उसको स्वाद लगा और वह अपनी ही धुन में सबका-सब सेर भर मांस खा गई। अभी पतीला ख़त्म ही किया था कि पति ने दरवाज़ा खटखटाया। स्त्री के हाथ-पाँव फूल गये। करे तो क्या! पति बड़ा ज़बर्दस्त है, वह कहेगा कि मांस गया कहाँ? वह एक तो मांस न मिलने की वजह से नाराज़ होगा और दूसरे इस बात से भी नाराज़ होगा कि जब तू कभी खाती न थी तो फिर तूने आज छिप कर क्यों खाया? इधर बाहर दरवाज़े पर ज़ोर से खटखट हो रही है और उधर स्त्री अपनी उधेड़-बुन में लगी है। उसको एकाएक एक बात सूझी क्योंकि Necessity is the mother of invention. उसने एक पास चलती हुई बिल्ली को पकड़ लिया और उससे ज़ोर से कहने लगी—'निकम्मी कहीं की! आख़िर देखा, सबका-सब मांस खा गई; ज़रा भी तो न छोड़ा। अब नया मैं इतनी जल्दी कहाँ से बना सकती हूँ। और फिर किस तरह बनाऊँगी!' आख़िरकार उसको पकड़े-पकड़े दरवाज़े पर ले गई। पति ने पूछा कि मामला क्या है? स्त्री कहने लगी—क्या बताऊँ, अच्छी बिल्ली पाल रखी है। सब कामों को बिगाड़ देती है। कभी दूध पी जाती है, कभी मक्खन खा जाती है और आज तो······

पति—आज तो क्या?

स्त्री—क्या बताऊँ!

पति—बताओ तो सही।

स्त्री—'देखो न, इस बिल्ली मुई ने क्या किया ! जब मैं उधर को किसी काम से गई और मुझे देर लग गई तो इसने झट पतीले में से तमाम मास निकाल कर खा लिया, पतीले में कुछ भी न छोड़ा। बहुत बुरी बिल्ली है ! कितनी ख़राब है ! अब मैं इसे घर से निकाले बग़ैर न रहूँगी।' यह कहकर उसने बिल्ली को सीढ़ियों से ढकेल दिया। पति झट बिल्ली के साथ-साथ सीढ़ियाँ उतर गया और उस बिल्ली को पकड़ लाया। चेहरे पर कुछ बनावटी गुस्सा था। कहने लगा, मैं अभी फैसला किये देता हूँ।

स्त्री—तो क्या इस बिल्ली को मार डालोगे ? न-न ! ऐसा न करना (बिल्ली को खाविंद से छीनने लगी)। आख़िर कसूर तो सब से हो ही जाते हैं, यह तो आख़िर बिल्ली ही है; बड़ी प्यारी है, कितनी भली लगती है।

पति ने कहा—नहीं, नहीं, मारने कब लगा हूँ; मैं तो फैसला करने लगा हूँ।

स्त्री—(चौंक कर) वह कैसा फैसला ?

पति ने वहाँ से तराज़ू-बट्टा निकाल लिया और बिल्ली को उठाकर तराजू के एक पल्ले में डाल दिया और दूसरे पल्ले मे एक सेर का पत्थर डाला। वजन करने लगा; पर क्या देखता है कि उसका वज़न पूरा एक सेर है। उसने स्त्री को बुलाया और पूछा कि बताओ उधर क्या है ? उसने कहा, बिल्ली। पूछा, और दूसरी तरफ ? उसने गौर से देख कर कहा कि एक सेर

का पत्थर। अब उसने पूछा कि बिल्ली का वज़न क्या हुआ? उसने कहा—……।

पति—बोलती क्यों नहीं?

स्त्री—क्या बोलूँ!

पति ने कहा—'यह बता कि अब या तो यह बिल्ली है या गोश्त; या यों कहिए कि एक सेर पूरा गोश्त खाने के बाद जब बिल्ली को तोला गया तो या तो यह बिल्ली नहीं या इसमें गोश्त नहीं; क्योंकि गोश्त का वज़न भी एक सेर था फिर बिल्ली कहाँ गई?' स्त्री ने कहा—हाँ, आप तो हर बात में हिसाब ही जोड़ने लगते हैं। गोश्त इसी ने खाया है इसी ने। क्या मैं खा गई? पति हँस पड़ा—नहीं, कौन कहता है कि तुमने खाया है। तुम तो कभी गोश्त को छूती भी नहीं, यह तो बिल्ली ही होगी जिसने खाया है। लेकिन हैरानी तो यह है कि सेर भर मांस खाने पर भी बिल्ली का वज़न एक सेर ही है। वाह क्या खूब! लेकिन मेरे हिसाब से इस पल्ले में या बिल्ली नहीं है या गोश्त नहीं है। ख़ैर, आप का हिसाब कुछ और होगा!

स्त्री—'हाँ, याद आ गया; वहाँ दूध भी तो उबल रहा है। कहीं उसको भी बिल्ली न पी जावे।'—और झट मुस्कराती हुई एक तरफ़ को चली गई। पति ज़ोर से हँस-हँस कर कहने लगा—'हाँ जी, या तो यह बिल्ली नहीं या यह गोश्त नहीं।

इस दृष्टान्त ने सिद्ध कर दिया कि तराजू के पल्लों में एक वक्त मे एक ही चीज़ रह सकती है। वास्तविक

बात यह है कि ब्रह्मवेत्ता से जब कोई कहता है कि देखो, जगत वास्तविक रूप में ब्रह्म में रहता है और इसकी अलहदा अपनी सत्ता है, तो जब विचार रूपी तराज़ू में ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को रखकर तोलता है तो उसमे जगत का नामो निशान भी नहीं मिलता, केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है। अब ज्ञानी उससे पूछता है कि भाई, या तो यह ब्रह्म नहीं या इसमे जगत नहीं। लेकिन ब्रह्म तो है, इसमें सन्देह ही नहीं। जब ब्रह्म है तो फिर यह ठीक ही हो गया कि इसमे जगत का वास्तविक रूप से कोई अंश नहीं है। अगर यह जान लेने पर भी उस स्त्री की तरह ज़बरदस्ती यह कहा ही जाता है (कि नहीं, इसी ने खाया है; इसी में है) तो आप भी कल्पना कर लीजिए कि जगत इसी में है—इसी में है। वरना वेदान्त की नज़र से तो ब्रह्म तत्व को जान लेने पर नाम रूपात्मक जगत का जुदा पता ही नहीं चलता; लेकिन हमारा भाव तो दूसरा है। हम तो यह कह रहे थे कि ब्रह्म के भूलने पर जगत की कल्पना होती है जिससे फिर दुःख होता है।

इसी तरह भक्तों का कहना है, जो दो और तीन पदार्थ भी मानते है, कि भगवान् को भूलने ही से कष्ट आते हैं क्योंकि जब हम भगवान् को भूलते हैं तभी तो जगत की सत्ता (ख़्वाह वह सत् भी है) हम पर अपना दुःख रूप प्रभाव डालती है।

अब सिद्ध हो गया कि पदार्थों की इच्छा ईश्वर को भूलने से होती है या पदार्थों के वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से। इसलिए ईश्वर-दर्शन और उसकी इच्छा अत्यन्त लाभदायक चीज़ है। यह

इच्छा 'इच्छा' में शामिल नहीं की जा सकती। महात्माओं ने आज़ाद होने पर भी इस इच्छा के बन्धन को न काटा इसलिए ईश्वरीय इच्छा 'इच्छा' में शामिल नहीं है।

भक्त और तमाम द्वैत या विशिष्टाद्वैतवादी जो वेदान्त की तरह केवल एक ही सत्ता निर्विकार को न मानते हुए भी स्वतन्त्र और अनादि पदार्थों को मानते हैं वे भी कहते हैं कि पदार्थ ख़्वाह अनादि दो हों या तीन; लेकिन दुःख का मूल कारण ईश्वर को ही भूलना है। क्योंकि उसके भूलने ही से सांसारिक इच्छाएँ पैदा होकर कष्ट का कारण बनती हैं। और फिर जब उसकी अपेक्षा से सांसारिक पदार्थों का सुख एक समुद्र के सामने बूँद के समान भी नहीं तो फिर उनकी इच्छा ही क्यों की जावे ?

प्रश्न—तो क्या आपका सिद्धान्त त्याग और वैराग है ?

उत्तर—नहीं, हर्गिज़ नहीं; बल्कि राग में वैराग और ग्रहण में त्याग है, जिसका वर्णन आगे चलकर विस्तृत रूप से किया जावेगा। इस समय तो लड़ाई केवल 'इच्छा' से है और हमको उसे ही जीतना है। अब तो मालूम हो गया कि न तो संसार के पदार्थ ही क्षणभङ्गुर होने से सुख का कारण और इच्छा का मुद्दआ बन सकते हैं और न प्रभु के अनन्त सुख को ही देखकर हमारे अन्दर उनसे कोई आकर्षण रह जाता है।

प्रश्न—आपने अस्तिमात्रता यानी ब्रह्म के अस्तित्व पर तो कुछ लिखा लेकिन उसके भाति रूप पर ज़्यादा रोशनी नहीं डाली। भाति दरअसल क्या चीज़ है ?

उत्तर—भाति=जिसका भान होता है। अब पदार्थों का ज्ञान दो तरह से होता है—एक तो किसी को अज्ञान के बाद जाना जाता है और दूसरे वह कि जो नित्य ज्ञान में ही होते हैं; जिसको स्वतःसिद्ध ज्ञान भी कहा जा सकता है। बाह्य पदार्थों को देखने के लिए नजर और प्रकाश की आवश्यकता है। अगर आँखें और रोशनी न हो तो वह नज़र आ ही नहीं सकते; और रोशनी को देखने के लिए दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं बल्कि रोशनी अपने ही प्रकाश से नज़र आती है, लेकिन इसमें भी नेत्रों की आवश्यकता है। अगर्चे नेत्र उस प्रकाश को केवल उसी के प्रकाश से देख सकते हैं लेकिन ब्रह्म ऐसा पदार्थ है जो स्वसंवेद्य है; यानी अपने ही से आप जाना जा सकता है। प्रकाश को देखने के लिए दूसरे प्रकाश की जरूरत नहीं होती; क्योंकि अगर प्रकाश को दूसरे प्रकाश से देखा जावे तो पहले प्रकाश को हम प्रकाश कैसे कह सकेंगे? सूरज अगर किसी को अपने प्रकाश से नजर नहीं आ सकता तो फिर किसी दूसरे प्रकाश से किस तरह नजर आ सकता है जब कि दूसरा कोई प्रकाश सूरज के प्रकाश से बड़ा नहीं है। अगर सूरज मोमबत्ती से देखा जावे तो उसके (सूर्य के) प्रकाश की हतक हो जायगी।

लेक रूयश रा वनूरे रूए ऊ दीदन तवाँ।
गर्चे माने दीदा रा अज़ दीदनश जुज नूर नेस्त॥

हम उसको उसी के प्रकाश से देख सकते हैं और फिर उसके आगे आवरण भी उसी के प्रकाश का ही है। आश्चर्य यह है कि

ख़ुद अपना पर्दा भी आप है और ज़ाहिर भी अपने से आप होता है। अगर उसका पर्दा कोई दूसरा होता तो वह सीमित हो जाता; क्योंकि जिस स्थान पर पर्दा होता वहाँ वह न होता और जहाँ तक वह होता वहाँ उसका पर्दा न होता! सूरज के आगे पर्दा किस का है? उसी के प्रकाश की अधिकता का। प्रभु किसमें छिपे बैठे हैं? अपने ही प्रकाश की ज़्यादती में। लेकिन जब नेत्र आहिस्ता-आहिस्ता उस प्रकाश को देखने के आदी बन जाते हैं तो वह पर्दा भी आहिस्ता-आहिस्ता प्रकाश मे ढलता जाता है और एक वक्त ऐसा आता है कि जिसको हम पर्दा कहते थे वह पर्दा रहता ही नहीं, बल्कि वह ऐन प्रकाश नज़र आता है। वास्तव में पहले भी वह प्रकाश ही प्रकाश था, लेकिन मन्द दृष्टि के कारण या अभ्यास की कमी के कारण उसका अनुभव पर्दे के रूप में हो रहा था। जब आँखें पक गई' या नज़र मिल गई, पर्दा त्रिकाल में कभी था ही नही, केवल प्रकाश ही प्रकाश था।

तो अज़ निशानए मा ग़ाफ़ली ओ बेख़बरी।
वगरना हरचे तो बीनी हमा निशानए मास्त॥

अर्थात्—दरअसल तू ही मेरे निशान से बेख़बर है, वरना जो कुछ तू देखता है मेरा ही निशान है। जहान और उसमें जो कुछ मौजूद है वह दरअसल एक लहर मेरे अनन्त दरिया की हरकत की है।

प्रश्न—ब्रह्म स्वसंवेद्य है, इसका क्या प्रमाण है ? रोशनी को तो रोज़ हम उसी के प्रकाश से देखते हैं।

उत्तर—ब्रह्म चेतन सत्ता है, ज्ञान स्वरूप है, सर्वव्यापक है और नित्य प्राप्त है। इन लक्षणों का ख़्याल करते हुए हमको यह पता लग जाना चाहिए कि वह हमारे अन्दर भी है। अगर न होता तो वह सीमित होता और एकदेशी कहलाता, जिससे वह एक नाशवान पदार्थ होता। वह ब्रह्म कुल शरीरों में आत्मरूप होकर विराजमान हो रहा है।

अच्छा, अब यह बताइए कि पदार्थों को आप किससे देखते हैं ? आँखों से और प्रकाश से। और प्रकाश को केवल प्रकाश से देखा जा सकता है, गोया नेत्र उसको उसी के प्रकाश से देखते हैं। अब रहा सवाल उस देखने वाले का, जो आँखों के ज़रिये निकल कर पदार्थों का प्रकाश करता है। आप उसको किससे देखते हैं, यानी आप सब के देखने वाले को किससे देखते हैं ? बाहर के पदार्थों से ? नहीं, क्योंकि वह तो इस आत्म सत्ता के बाद नज़र आये। प्रकाश से ? नहीं, वह प्रकाश कभी प्रकाश ही न कहलाता अगर यह आत्म-सत्ता नेत्रों के ज़रिये निकल कर उस प्रकाश का प्रकाश न करती। फिर, आत्मा को आप किससे जानते हैं ? आत्मा से या किसी और से ? अगर आत्मा को किसी और से जानते हैं तो वह बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ ही हो सकती हैं जो कि आत्मसत्ता का प्रकाश लिये बगैर जड़ हैं। दूसरे, यह इन्द्रियाँ ख़ुद आत्मा के प्रकाश से चल रही

हैं इसलिए इनसे तो आत्मा को जानना कठिन है। फिर, आत्मा को आत्मा ही से जानते होंगे।

जाने दीजिए युक्तियों को, अनुभव की तरफ़ आइए कि जिस अनुभव को एक निरक्षर भी समझ सकता है। साधारण शब्दों में, आपको अपना ज्ञान किससे होता है? अपने आप से या किसी और से? तो कहना पड़ेगा कि 'मैं हूँ' यह तो सब जानते ही हैं। आप पूछ सकते हैं कि बच्चा 'मैं हूँ' यह कब जानता है? उसका उत्तर यह है कि अगर्चे बच्चा 'मैं हूँ' के शब्द को तो नहीं जानता लेकिन उसका जीना उसके होने का ख़ुद प्रमाण है। वह 'कुछ है' वह जानता है। वह किसी को प्रतिकूल और किसी को अनुकूल अपने अद्भुत भावों से समझ लेता है। 'आप हैं' या 'मैं हूँ' इसको किसी दूसरी चीज़ से जानने की ज़रूरत नहीं, यह सूरज के प्रकाश की तरह अपने ही अन्तर्ज्ञान से जाना जाता है। अस्तिमात्र का प्रकाश चेतन भाति सत्ता से होता है क्योंकि जब ब्रह्म को अनन्त माना और किसी दूसरे को उसके साथ न रहने दिया तो वह अपनी चेतन सत्ता या ज्ञान से ही प्रकट हो सकता है। अगर ब्रह्म को जड़ मान लेंगे तो फिर ब्रह्म का अस्तित्व जाता रहेगा, क्योंकि जड़ को तो अपना ज्ञान होता नहीं और दूसरे चेतन का इस जड़ अनन्त ब्रह्म के होने की वजह से अभाव है, इसलिए चेतन का ब्रह्म में अभाव मानने से ब्रह्म ही का अभाव हो जायगा। पस, ब्रह्म के अनन्त अस्तित्व को कायम रखने के लिए ब्रह्म के अनन्त ज्ञानस्वरूप होने की आवश्यकता

है, क्योंकि अगर वह सान्त ज्ञानस्वरूप होगा तो उसका फिर अभाव हो जायगा, या कहीं उसका भाव होगा तो कहीं अभाव हो जायगा। अतएव ब्रह्म अनन्त है और उसका ज्ञान भी अनन्त है। इसलिए वह अस्ति भातिरूप है, उसको अपना ज्ञान केवल अपने ही से होता है किसी दूसरे से नहीं, दूसरा तो है ही नहीं जिससे उसको अपना ज्ञान हो। इसलिए वह अस्तिरूप और भातिरूप है, वह हर समय अपने ज्ञान मे हर जगह प्रकट ही है।

अब इसको हम दूसरी तरह से और स्वतंत्र रूप से देखते हैं कि वह भातिरूप कैसे है? उसका भान हमको तो होता नहीं, लोग तो उसके लिए बड़े-बड़े पुरुषार्थ करते हैं और फिर भी उसका पता नहीं लगता।

वेदान्त का कहना है कि उसका भान मनुष्य को हर समय होता है, ख्वाह वह ज्ञानी हो या अज्ञानी; चूँकि जिसको उसका भान न होगा वह ज़िन्दा रह ही नहीं सकता, क्योंकि वह प्राणों का भी प्राण है। हमारा जीवन केवल उसी के साथ है। हम बगैर उसके क्षणमात्र के लिए भी ज़िन्दा नहीं रह सकते। हवा जीवन के लिए बहुत ज़रूरी चीज़ है, लेकिन उसके बगैर हम प्राणायाम करके कई घण्टे या बगैर प्राणायाम के कई मिनट तक ज़िन्दा रह सकते हैं, लेकिन फिर भी उसको इतना जरूरी समझा गया है कि अगर वह न मिले तो हम समझते हैं कि हम मर रहे है। फिर, ब्रह्म जीवन के लिए हवा से कम ज़रूरी है या ज्यादा या उतना ही? अगर कम ज़रूरी है तो ब्रह्म का महत्व ही जाता

रहता है, अगर उतना ही जरूरी है तो भी उसकी बड़ाई जाती रहती है; और अगर ज्यादा ज़रूरी है तो उसका हमारे जीवन के आधार के लिए हर समय हमारे साथ मौजूद होना जरूरी है; क्योंकि अगर वह हमसे ज़रा भी जुदा हुआ तो हम रह ही नहीं सकते। हवा के बग़ैर कुछ मिनट तो जिन्दा रह भी लेते हैं लेकिन उसके बग़ैर हम ज़िन्दा रह ही नही सकते; क्योंकि वह हवा से ज्यादा ज़रूरी है। इसलिए ही तो साबित हुआ कि हम उसके बगैर बिलकुल ही जिन्दा नहीं रह सकते। अतएव हमारे जीवन का आधार केवल उसी के साथ है या उसी से है। हम यह जानें या न जानें कि हम साँस ले रहे हैं लेकिन हमारी ज़िन्दगी का दारोमदार तो हवा पर ही है। इसी तरह हम जानें या न जाने कि ब्रह्म हमारे साथ है लेकिन हमारे जीवन का आधार तो वही ब्रह्म ही है दूसरा कोई नहीं; क्योंकि अपने अस्तित्व के आधार के लिए उस अस्तित्व का ज्ञान होना ज़रूरी है, वरना अगर कोई चीज़ ज्ञान से निकल जायगी तो उसका अस्तित्व भी जाता रहेगा। हवा के बगैर तो हम ज़िन्दा रह सकते हैं ख्वाह अल्प समय के लिए ही सही, लेकिन ब्रह्म के बग़ैर तो हम किसी तरह जी ही नहीं सकते, क्योंकि जहाँ अपने अस्तित्व का ज्ञान ख़त्म हुआ वहीं हम जाते रहे। मैं पहले कह चुका हूँ कि यह ज्ञान पदार्थ सबन्धी ज्ञान की तरह दूसरे का मोहताज नहीं बल्कि यह ज्ञान अपने साथ हर समय रहता है। उसको इसकी भी परवाह नहीं कि कोई उसको जानता है कि नहीं। क्योंकि जीवन का

आधार "ब्रह्म का भान होना है"। इसलिए ब्रह्म को भाति कहा गया है कि वह ज्ञानी और अज्ञानी को समान ही प्राप्त है और उसका ज्ञान भी ज्ञानी और अज्ञानी को हर समय होता रहता है; क्योंकि जिसको उसका भान न होगा वह रह ही नहीं सकता। इसलिए "है" उस भातिरूप ब्रह्म की शक्ति ही से कायम है क्योंकि उसके बग़ैर न तो अस्तिमात्रता रहती है और न जीवन ही रह सकता है। इसलिए भी तो इसको नित्य प्राप्त कहा गया है और दरअसल इसका नित्य प्राप्त होना ही इसके महत्व का प्रमाण है क्योंकि अगर यह नित्य प्राप्त न हो तो यह सीमित (Limited) हो, जिससे यह नाशवान हो जाय।

प्रश्न—अगर ब्रह्म अज्ञानी और ज्ञानी को समान ही प्राप्त है तो फिर उसके लिए ज्ञानी इतना यत्न क्यों करता है और फिर ज्ञानी का महत्व ही क्या रह जाता है?

उत्तर—ब्रह्म का महत्त्व तो इसमें है कि वह सब को सहज ही प्राप्त हो, लेकिन ब्रह्मज्ञानी का महत्व इसमे है कि वह उसके नित्य प्राप्त होने को जानता है। अज्ञानी को तो वह नित्य प्राप्त है लेकिन अज्ञानी जानता नहीं और ज्ञानी को भी नित्य प्राप्त है लेकिन ज्ञानी जानता है कि वह नित्यप्राप्त है सिर्फ़ मुझको ही नही बल्कि अज्ञानी को भी नित्य प्राप्त है क्योंकि अगर ज्ञानी उसको किसी के लिए प्राप्त समझे और किसी के लिए अप्राप्त तो वह ज्ञानी ही नहीं कहला सकता।

और जो आपने यह पूछा कि ज्ञानी उसकी प्राप्ति के लिए यत्न क्यों करता है इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी तो प्राप्ति के लिए कभी यत्न करेगा नहीं; क्योंकि प्राप्ति के बाद तो वह ज्ञानी बना है और जिस काल तक वह यत्न करता रहा उस समय तक वह उसकी नित्यप्राप्ति को अनुभव नहीं करता था।

जब हमने यह मान लिया कि हम उसके बग़ैर कुछ हो ही नहीं सकते तो फिर हमारा होना ही उसकी हस्ती का प्रमाण है। हम दिन भर मे ख़्वाह यह ख़्याल करें या न करें कि 'हम हैं' लेकिन हमको हमारा भान होता ही रहता है। इसी तरह ब्रह्म का भाति रूप में हमको स्वभावत. ज्ञान होता रहता है, लेकिन हम जानते नहीं कि हमको उसका ज्ञान हो रहा है।

एक जङ्गल में एक ख़ास किस्म की हवा चला करती थी। जो मनुष्य उसमें से गुज़रा करते थे उनको एक ख़ास ही मस्ती मिलती थी, लेकिन उनको यह मालूम न होता था कि यह मस्ती उनको उस हवा के कारण मिल रही है। एक दिन एक महात्मा ने सोचा और जानने की कोशिश की। आख़िरकार' समझ लिया कि यह मस्ती उनको सिर्फ़ उस हवा की वजह से मिल रही है किसी और वजह से नहीं, तो उसने सिद्धान्त निश्चित कर लिया कि इस जङ्गल में मस्ती का कारण केवल यह हवा है जो चला करती है। लेकिन जिन्होंने इस बात को नहीं समझा था, वे भी तो मस्त होते ही थे। समझने और न समझने वालों में भेद सिर्फ़ इतना था कि एक समझता था कि हवा से मस्ती मिल रही है और

दूसरे यह न समझते थे, लेकिन ज्ञानी ही की तरह मस्त वह भी होते थे।

इसी तरह ब्रह्म—भाति रूप मे उसका अनुभव वगैर किसी पुरुषार्थ के हर मनुष्य को हर समय होता है, मगर ज्ञानी उसकी जाँच-पड़ताल कर के समझ लेता है और अज्ञानी नही। लेकिन इस समझने और न समझने से उसके नित्य प्राप्त होने में कोई कसर पैदा नहीं होती। वह तो सब जगह समान रूप से काम कर रहा है।

वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार आप की आत्मा ब्रह्म ही का उपाधि-भेद से अंश है वास्तविक रूप से नहीं। अब इस आत्मा को जानने के लिए आत्मा की रोशनी की ज़रूरत है। आप अपने आप को केवल अपने ही ज्ञान से जानते हैं और फिर संसार का कुल अस्तित्व आपके इस ज्ञान पर निर्भर है। गोया कुल सत्तामात्र का आधार ज्ञान है और यह ज्ञान ब्रह्म का भाति अंश है।

सूक्ष्म रूप से देखा जावे तो वह उस स्वर्ण की तरह है, जिसके कई नामरूप बन चुके हैं। कहीं अँगूठियाँ है, कही छल्ले, कहीं बटन और कही ज़ंजीरें वगैरह; लेकिन इन नामरूपों मे उस स्वर्ण का पूर्ण भान हर एक को होता ही रहता है। अगर किसी समय यह भान न हो तो फिर उन नामरूपों का भान हो ही नहीं सकता कि जो उसके आधार पर कायम हैं। इसी तरह जगत मे ब्रह्म के आधार पर नामरूप जगत कायम है। जिस को नामरूप

जगत का भान हो रहा है उसको ब्रह्म का भान कैसे न होगा। जिस तरह स्वर्ण के ज्ञान या भान के बग़ैर उसमें रहने वाले नामरूप अँगूठी, ज़ंजीर वग़ैरह क़ायम नहीं रह सकते उसी तरह ब्रह्मज्ञान के बग़ैर जगत का अस्तित्व ही कायम नहीं रहता। रोज़ देखने में आता है कि जब मनुष्य ज़ेवरात की तरफ़ ध्यान देता है तो यही कहता रहता है कि वाह ! कैसे अच्छे बटन बने हैं, कैसी सुन्दर ज़ंजीरें हैं वग़ैरह-वग़ैरह। यह कहता ही नहीं कि कितना सुन्दर सोना है। अब फ़र्क़ इतना है कि जब ज़रा भी ध्यान दिया जावे कि यह नामरूप अँगूठियाँ हैं क्या; तो सिवाय स्वर्ण के और कुछ रहता ही नहीं। लेकिन यह ख़्याल करने पर कि 'सोना है' सोना पैदा नहीं होता ! स्वर्ण तो हमेशा ही है सिर्फ़ हमने ख़्याल किया है कि जिसके बग़ैर भी स्वर्ण पहले ही मौजूद था।

और फिर दूसरे का भान तो तब हो अगर दूसरा हो। वेदान्त के सिद्धान्त के मुताबिक़ हस्ती तो सिर्फ़ एक है। इसलिए जो है उसका भान होना ज़रूरी है या जो भान हो रहा है वह वही है। एक शख़्स अँधेरे में जा रहा था। उसको सामने एक चोर खड़ा नज़र आया। दूसरे को ऐसा मालूम हुआ कि यह वह है जिसको ढूँढ़ने वह निकला था। चोर को ख़्याल हुआ कि यह एक सिपाही है; इत्यादि। लेकिन वहाँ न तो चोर था न खोया हुआ पुरुष और न सिपाही ही; बल्कि वहाँ तो दरख़्त का एक ठूँठ था जिस में यह सब दृश्य नज़र आ रहे थे। अब अगर ग़ौर से देखा

जावे तो भान तो उस दरख़्त का ही हो रहा था लेकिन किसी को कोई कल्पना और किसी को कोई हो रही थी। इन कल्पनाओं का आधार, इनका आश्रयमात्र तो सिर्फ पत्ते और लताओं से रहित वृक्ष था। जब उसको किसी ने टार्च जलाकर देखा तो वहाँ तो वह सब कुछ कुछ न था, जिसकी प्रतीति हो रही थी। वहाँ जो था वह तो उन सब से निराली वस्तु थी। आख़िरकार सबका मत एक हो गया और सब कहने लगे कि सच है, ज्ञान और भान तो हमको सिर्फ इस सूखे वृक्ष का ही हो रहा था, लेकिन हमारी गलतियों की वजह से हमको एक मिथ्या प्रतीति हो रही थी; वास्तव में तो एक ही चीज का अनुभव हो रहा था।

इसी तरह हर मनुष्य को जानते या न जानते केवल ब्रह्म का ही भान हो रहा है। लेकिन जब बुद्धि उसको पूर्णरूप से नहीं पकड़ सकती तो उसमे जगत और उसके नानात्व की कल्पनाएँ बन जाती है। दरअसल हमारे सामने जो कुछ है वह सिवाय उसके और कोई नहीं कि जिसको ब्रह्म कहा जाता।

हाँ, तो ज्ञानी और अज्ञानी में भेद क्या है ? वह सिर्फ यह कि एक की बुद्धि ने संशयरहित होकर ज्ञान के प्रकाश में उस ब्रह्म को देख लिया है जिसका स्वाभाविक ज्ञान ज्ञानी और अज्ञानी को समान रूप से बना ही रहता है; लेकिन बुद्धि का ज्ञान ज्ञानी को ही होता है अज्ञानी को नहीं। मिसाल के तौर पर, आप कहते हैं कि 'मैं हूँ' और इस पर बड़ा गौर करते हैं तो

भी आप होते हैं और दूसरा यह कहता नहीं कि 'मैं हूँ' और न 'मैं हूँ' पर ज़्यादा ज़ोर ही देता है, लेकिन होता वह भी है। इसी तरह ज्ञानी को तो 'यह जो कुछ नज़र आ रहा है केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है' यह ज्ञान बुद्धि द्वारा भी हो जाता है। अज्ञानी को अनुभव तो उसी का होता है; लेकिन यह बात उसकी बुद्धि में ज्ञानी की तरह समाई नहीं होती कि यह सब कुछ जो मैं अनुभव कर रहा हूँ ब्रह्म ही ब्रह्म है।

प्रश्न—जब ज्ञान नहीं तो फिर बग़ैर ज्ञान के अज्ञानी को अनुभव क्योंकर होता है ?

उत्तर—ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक तो बुद्धि से ग्रहण किया हुआ और दूसरा अपने स्वभाव से। स्वभाव से ग्रहण किये ज्ञान मे तो ज्ञानी और अज्ञानी को समान ही ब्रह्म का भान होता है, लेकिन बुद्धिगम्य ज्ञान में भेद रहता है। इसीलिए ज्ञानी और अज्ञानी का केवल इतना ही भेद है। अरबी मे भी लिखा है—

अल हक्क़ो महसूसन वलखल्क़ो माक़ूलन ।

अर्थात्—जो कुछ हमे महसूस होता है वह तो सब हक सत् ब्रह्म ही है, लेकिन फिर उस पर जो सृष्टि का भान हो रहा है या इस अनेकता का भान हो रहा है वह सब हमारी कल्पना है और कुछ नहीं। यह बुद्धि का विकार है। यदि हम किसी पदार्थ को लाल ऐनक लगा कर देखें तो वह सुर्ख़ नज़र आता

है, हरी से हरा और पीली से पीला। इसी तरह जब हम ब्रह्म को इन्द्रियों और बुद्धि द्वारा देखते हैं तो वह ब्रह्म अपने एकता के स्वरूप में नज़र नहीं आता, बल्कि अनेकता के रूप में नज़र आता है। इसमें अनेकता तो बुद्धि का अपना रंग, साया या reflection होता है; लेकिन जिस पर यह कुल अनेकता का भान होता है या जिस अनेकता में से उस एकता का भान होता है वह केवल ब्रह्म ही ब्रह्म होता है।

अब हमको भान दो चीज़ों का हुआ—एक तो ब्रह्म का, जिस पर बुद्धि ने अपनी सृष्टि रची थी और दूसरे उस अनेकता का जो बुद्धि ने बना-सँवार कर सामने रखी। बहरहाल अनुभव तो ब्रह्म का हो सकता है और हुआ भी है लेकिन अनेकता की जो प्रतीति हुई है वह केवल बुद्धि की उलट कल्पना है या बुद्धि का अपना साया है।

एक बच्चा अपने साया (छाया) का सिर पकड़ने जा रहा था, लेकिन उसका साया उसके हाथ न आता था। आख़िरकार उसकी माँ ने आकर कहा—'बेटा, घबराते क्यों हो, तुम अपने सिर को पकड़ लो, साया तुमारे हाथ में आ जायगा।' जब माँ के कहे मुताबिक बच्चे ने अपना सिर पकड़ा तो उसके साये का सर उसके साये के हाथ में आ गया। बच्चा ख़ुश हो गया और कहने लगा कि साया बाहर तो वास्तव मे कोई चीज़ नहीं है, यह तो मेरा ही आकार है जो सामने रोशनी को रोकने की वजह से प्रकट हो रहा था। बच्चे ने झट

उधर से मुँह फेर लिया और साया सामने से जाता रहा लेकिन साया रहा ज़रूर क्योंकि रोशनी की तरफ़ मुँह करने से साया पीछे दौड़ने लगा। मगर थोड़ी ही देर बाद सूरज सर पर आ गया और साया पाँवों के तले ख़त्म हो गया। इसी तरह जब बुद्धि इस कल्पना में दौड़ती है कि मैं यह देखूँ कि यह अनेकता आई कहाँ से और इसके कारण को किसी तरह पकड़ूँ तो जिस क़दर यह उसकी छान-बीन करती है उसी कदर अनेकता इसके सामने जोर से आने लगती है। लेकिन जब इसको श्रुतिरूपी माँ बता देती है कि यह तो केवल तुम्हारी अपनी ही कल्पना है या तुम्हारे कल्पित अस्तित्व का आभास है तो यह जान कर अपनी रोशनी को अपने अन्दर डालती है; जिसका नतीजा यह होता है कि इसको पता मिल जाता है कि तमाम बाह्य अनेकता का मूल कारण तो मैं ही थी और जब यह अपना मुँह उस छान बीन से फेर कर ब्रह्म रूपी प्रकाश की तरफ करती है तो इसको अनेकता का भान ही नहीं रहता। कभी-कभी जब यह पहली कल्पनाओं मे आकर फिर पीछे की तरफ़ देखती है यानी अपने पहले विचारों के आधार पर चलती है तो इसको फिर सृष्टि का भान होने लगता है तो यह फिर झट अपना मुँह उधर से फेर कर अपने ब्रह्म की तरफ़ देखने लगती है; लेकिन जब कुछ समय या अभ्यास के बाद वह ब्रह्मरूपी प्रकाश इसके अन्दर ज़र्रे-ज़र्रे में समा जाता है तो फिर इसको न तो अपनी ही सुध रहती है और न उस अनेकता के आभास का ही पता

रहता है, केवल अनुभवगम्य ब्रह्म ही का ज्ञान या भान होने लगता है।

वेदान्त का कहना है कि जो कुछ हमें अनुभव होता है या भान हो रहा है यह सब ब्रह्म ही है और कुछ नहीं, क्योंकि भान उसका होगा जो 'है'। चूँकि वह अस्तिमात्र है इसलिए उसका भाति होना जरूरी है। कुछ ऐसे अस्तिमात्र पदार्थ होते हैं जिनको कोई दूसरा छिपा भी सकता है लेकिन ब्रह्म की अस्तिमात्रता ऐसी है जो किसी भी पदार्थ के छिपाये छिप नहीं सकती। बादल जब सूरज को ढाँकने आते हैं तो सूरज के प्रकाश से उन बादलों का भी प्रकाश हो जाता है। अगर बादल सूरज की रोशनी को बिलकुल खत्म कर देते तो फिर बादल ख़ुद भी कैसे नजर आते?

इसलिए ब्रह्म भाति रूप है। आपने सुना और पढ़ा होगा कि अक्सर महात्माओं को जब उनके द्वेषी कत्ल करने या दुःख देने आये तो वह उनसे 'भगवान् भगवान्' कह कर लिपट गये। देखने वालों को अचम्भा हुआ कि यह अपने द्वेपियों से प्रेम कर रहे हैं, लेकिन उस समय उनकी दृष्टि उनके बाह्य आकार पर न होती थी बल्कि उस ब्रह्मतत्व पर, जिसपर उनके बाह्य आकारों का प्रकाश बुद्धि के अज्ञान (ग़लतफ़हमी) से हो रहा था—वह उस समय ब्रह्ममय भावों से काम करते होते थे। जब महात्मा सरमद साहब को जल्लाद मारने आया तो वह कहने लगे—

क्या क्या फ़िदाये तो शवम क्या क्या !
कि वहर सूरते कि आई मन तुरा ख़ूब मी शनासम !!

अर्थात्—आ-आ, मैं तेरे पर वारा जाऊं। आ और जल्द आ; क्योंकि तू जिस किसी भी लिबास मे आता है मैं तुझको ख़ूब पहचानता हूँ। बुद्धि से देखने वालों को तो वहाँ तलवार और जल्लाद नज़र आया, लेकिन इन महात्मा को वहाँ सिवाय ब्रह्म के दूसरा नज़र न आ रहा था, क्योंकि यह उस समय साधारण बुद्धि से जगत को न देख रहे थे बल्कि ज्ञानरूपी दृष्टि से।

एक महात्मा के हाथ पर एक आदमी सुलगता हुआ कोयला रख गया। दूसरे ने आकर उस कोयले को हटा दिया और उस पर मरहम लगाने लगा। मरहम लगाते समय वह आदमी पूछ बैठा—'महाराज, यह कोयला आप पर किसने रखा था?' तो कहने लगे—'हाँ, उसीने जो मरहम लगा रहा है।' वह घबरा गया और कहने लगा—'नहीं महाराज, मैं वह नहीं, मैं हर्गिज़ वह नहीं। अगर मैं वह होता तो इस समय मरहम क्यों लगाता? आप मुझको ख्वा-मख्वाह दोष दे रहे हैं। प्रभो! मैं इतना पाप भला कैसे कर सकता था? मेरा दिल इतना कठोर नहीं है।' महात्मा ने मुस्करा कर कहा—'भाई डरो नहीं, मैं तुम्हारे नामरूप को इस समय देख कर ऐसा नहीं कह रहा, बल्कि मुझे इस समय जिसका भान हो रहा है, मैं उसी को कह रहा हूँ। मुझको आज-कल हर नामरूप में अपने ही ब्रह्म का भान होता रहता है। यह ठीक है कि तुमने इस नामरूप से

मुझको नहीं जलाया था लेकिन कुल नामरूप तो एकही ब्रह्म के हैं या एक ही ब्रह्म पर कुल नामरूप अधिष्ठित हैं। इस लिए कोयला रखने वाला कोई दूसरा कहाँ से आवेगा ? पस, हमको तो जलाने और मरहम लगाने वाला केवल एक ही नजर आता है दूसरा नहीं।'

दुई अज़ दिल बदर करदम यके दीदम दो आलम रा।
यके बीनम यके गोयम यके दानम यके ख़्वानम॥

अर्थात्—मैंने दिल से गैरियत को दूर कर दिया तो दोनों जहान मेरे लिए एक हो गये। अब मैं एक देखता हूँ, एक कहता हूँ, एक जानता हूँ और एक ही पढ़ता हूँ।

यह है मनुष्य की आगाही, ज्ञान या Consciousness की वह अवस्था, जहाँ द्वैत नाम को भी नहीं रहता और मनुष्य अपने रागद्वेष के विकारों को खो बैठता है।

प्रश्न—तो क्या यह नजर संसार के कार्य को बिलकुल नष्ट नहीं कर देती ?

उत्तर—आप यह प्रश्न उन लोगों के लिए पूछ रहे हैं, जिन पर कभी-कभी यह नजर आती है या उन लोगों के लिए कि जिन पर बिलकुल आती ही नहीं, या उनके लिए जिन पर आकर फिर कभी यह नज़र जाती ही नहीं ? अगर आप उनके लिए पूछ रहे हैं कि जिन पर कभी-कभी यह नज़र आती है तो उसका उत्तर यह है कि अगर दिन के २४ घण्टों में कभी-कभी स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाएँ आकर बाकी समय के लिए

आपके सांसारिक व्यवहार को ख़राब नहीं करतीं तो फिर यह नज़र भी आपके कारोबार में उस समय बाधक कैसे हो सकती है जिस समय यह नज़र नहीं रहती; अगर आप उनके लिए पूछते हैं जिन पर यह नज़र कभी आई ही नहीं, तो पूछना ही व्यर्थ है। और अगर उनके लिए पूछते हैं कि जिन पर आकर जाती ही नहीं तो भी पूछना व्यर्थ है; क्योंकि जिस पर चौबीस घण्टे सुषुप्ति अवस्था रहती है उसके लिए तो संसार रहा ही नहीं, फिर उसके लिए नफ़ा-नुकसान भी कहाँ रहा? अगर आप कहें कि नहीं, हमको तो मालूम होता है कि वह मनुष्य यह नुकसान अपनी नजर से उठा रहा है, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि फ़ायदे की तशरीह (Definition, परिभाषा) अपनी-अपनी है। या अगर यह भी है कि फायदा वह है, जिसमें सुख ज्यादा हो तो फिर जब ब्रह्मज्ञानी को चौबीस घण्टे सिवाय ब्रह्म के दूसरे का अनुभव ही नहीं होता तो फिर इससे बड़ा फायदा और क्या हो सकता है क्योंकि जिन सुखों की तलाश में हम लोग संसार की तरफ दौड़ते हैं, उसका तो समुद्र ब्रह्म-प्राप्ति मे सामने लहराने लगता है। दूसरी बात यह भी है कि अक्सर ब्रह्मज्ञानी अपनी इस दृष्टि में ही रहता है, सिवाय ब्रह्म के उसे दूसरी दृष्टि का भान हीं नहीं होता, लेकिन अक्सर वह साधारण रूप में साधारण ज्ञान से साधारण सतह (Level) पर भी खेलता है या यों कहिए कि जब वह सांसारिक कल्पना को लेकर इस खेल को खेलता है तो बावजूद ब्रह्म का नित्यज्ञान रखते हुए वह अपने काम को और

भी अच्छी तरह करता है। उस दृष्टि मे वह सब नफा-नुक़सान को सामने रखता है, गोया ब्रह्मज्ञानी की दो नजरें हो जाती हैं—एक तो केवल ब्रह्म को देखना, और यह है उसकी समाधि। इस समाधि को वह ऑख, नाक, कान बन्द करके नहीं लगाता बल्कि जब वह अपने ब्रह्मभाव मे कायम होता है तो उसकी समाधि सम + धी हो जाती है। इस हालत मे उसको जब सिवाय ब्रह्म के दूसरा नज़र आता ही नहीं तो फिर उसको किससे ऑख बंद करने की ज़रूरत हो सकती है?

दूसरी नजर ब्रह्मज्ञानी की ब्रह्म की माया उपाधि को साथ लेकर होती है; यानी जिससें उसको नामरूप जगत का भी भान होता है। उसमें उसके लिए तमाम अनेकता ब्रह्म का एक संकल्प होता है और उस संकल्प से रची हुई सृष्टि मे उसके तमाम नियम होते हैं। जब एक दफ़ा ब्रह्मज्ञानी इस नज़र मे आता है तो संसार में अज्ञानियों की तरह काम करता नज़र आता है, लेकिन ज्ञानी और अज्ञानी के काम मे इतना भेद होता है कि एक तो ब्रह्म को भूल कर नामरूप जगत में रहता है और दूसरा ब्रह्म-दृष्टि को दिल मे रख कर इस जगत मे अपने उन तमाम फ़र्ज़ों (Duties) या पार्ट को पूरा करता है जो ईश्वरीय संकल्प द्वारा इसके जिस्म पर डाले गये हैं। जब इसको समाधि में जाना होता है तो यह ख्याल कर लेता है कि यह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है और जब इसको काम करना होता है तो यह जानता है कि यह सब कुछ ब्रह्मरूपी अधिष्ठान सत्ता के सहारे उसी के संकल्प,

माया या शक्ति से रचा हुआ जगत है और उसमें मेरा पार्ट यह है। पस, यह उस पार्ट को पूरा करने में पूरे दिल से लग जाता है। यही वजह है कि ब्रह्मज्ञानी जैसा कर्मयोगी संसार में दूसरा हो ही नहीं सकता। अज्ञानी तो ब्रह्म को भूलकर इस संसार में काम करता है और दुखी रहता है; क्योंकि उसको इस अनेकता में एकता का ज्ञान ही नहीं होता; परन्तु ब्रह्मज्ञानी के सामने ब्रह्म का भाति स्वरूप बना रहता है और उसके आधार पर वह हर समय मस्त रहता है।

प्रश्न—ब्रह्म प्रियरूप कैसे है ?

उत्तर—वह सुख और सौन्दर्य का भण्डार है। वह सब की आत्मा है। इसलिए ब्रह्म प्रियरूप है। हर शख़्स को अपने आप से प्यार होता है और जहाँ वह अपनी 'मैं' को दूसरे में देख लेता है वहाँ भी उसको प्रेम हो जाता है। किसी को अपनी आत्मा से घृणा नहीं हो सकती। यह है आत्मा के प्रियरूप होने की कसौटी। क्या आप अपने आप से प्रेम नहीं करते ? क्या आपको अपना आप प्रिय मालूम नहीं होता ? यहाँ तक कि जो पदार्थ आपकी 'मैं' से अपना सम्बन्ध पैदा कर लेते हैं वे भी प्रियरूप हो जाते हैं। माँ को अपना आप प्यारा होता है, अपना पुत्र प्यारा होता है, अपने पुत्र का पुत्र भी प्यारा होता है। संसार में अगर देखा जावे तो कुछ पदार्थ इसी आत्मा के प्रतिबिम्ब से प्यारे होते हैं या इस आत्मा के लिए प्यारे होते हैं। उपनिषदों में भी लिखा है—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियम् भवति !

अर्थात्—इस आत्मा के लाभ और सुख के लिए ही सब कुछ प्यारा लगता है। स्वर्ग भी इसीलिए प्रिय है कि इससे आत्मा को सुख मिलता है। यहाँ तक कि लोग भगवान से भी इसलिए प्रेम करते है कि उनसे मनुष्य को शान्ति और सुख मिलता है।

आपने एक बाग ख़रीदा। अब आप की 'मै' का उससे सम्बन्ध हो गया। पहले दिन वह इतना प्रिय न लगता था लेकिन आज बहुत ही प्रिय लगने लगा। सारांश यह कि जिस पदार्थ से भी आपकी आत्मा का सम्बन्ध हो जायगा वह प्रिय हो जायगा। अन्दाज़ा कीजिए कि आत्मा आत्मा को कितनी प्रिय हो सकती है।

प्रश्न—लेकिन यह तो आत्मा में प्रियरूपता का भान हुआ। हम तो यह पूछते हैं कि ब्रह्म कुल जगत मे व्याप्त होता हुआ भी प्रियरूप कैसे है?

उत्तर—जब तक इस जगत में हम उस ब्रह्म को अनुभव नही करते उस समय तक तो ब्रह्म में प्रियरूपता का कहना कठिन है, क्योंकि जिसमें प्रियरूपता का भान होना है जब वह पदार्थ ही नहीं है तो फिर उसमे प्रियरूपता का गुण कैसे प्रकट हो सकता है? जब आप ने ब्रह्म को जान लिया तो वेदान्त की आज्ञा के अनुसार वह आपकी अपनी आत्मा हो गया, इसलिए फिर उससे ज्यादा प्रिय कौन हो सकता है?

प्रश्न—तो क्या उसकी प्रियरूपता हमारे जानने पर निर्भर है?

उत्तर—नहीं। वह तो प्रियरूप है ही; ख्वाह हम जानें या न जाने लेकिन हमको उसकी प्रियरूपता का भान कभी अपने अज्ञान की वजह से होता है और कभी नहीं। जैसे सूरज में हर समय प्रकाश और गर्मी है लेकिन अगर सूरज को नेत्र बन्द कर के देखें तो हमको उसमें प्रकाश नज़र नहीं आता और यदि ठण्डे कमरे मे बैठकर उसको देखें तो उसमें प्रकाश तो नज़र आता है परन्तु ग़र्मी नहीं। मगर जिस समय हम उसमें प्रकाश को देखते हैं और गर्मी को नहीं, उस समय भी उसमें गरमी मौजूद है; और जब गर्मी को देखते हैं, प्रकाश को नहीं, उस समय भी उसमें प्रकाश मौजूद है क्योंकि इन गुणों का उससे नित्य सम्बन्ध है। अस्ति-भाति-प्रिय-रूपता का सम्बन्ध ब्रह्म से नित्य है इसलिए उसमें प्रियरूपता का हर समय होना ज़रूरी है। अगर किसी कारण से हम उसमें हर समय इस प्रियरूपता को न भी देख सकें तो यह कसूर ब्रह्म का नहीं; हमारी नज़र का है। यह नज़र का दोष उसी तरह है कि जिस तरह अस्तिमात्रता और भाति रूप में भी होता है, क्योंकि जब तक उसका पता न चले तो उसमें होते हुए भी उसका पता नहीं मिलता। यहाँ तो आश्चर्य यह है कि प्राप्त की प्राप्ति है।

जो ग़ाफ़िल वस्ल में होकर तलाशे वस्ल में भागे।
कहाँ हद उसकी दूरी की न अन्दाज़ा है हिजराँ का॥

अर्थात्—जो अज्ञानी नित्य प्राप्त ब्रह्म को रखते हुए फिर उसकी प्राप्ति की इच्छा कर रहा है ऐसे अज्ञानी का वियोग तो

कभी दूर ही नहीं हो सकता, क्योंकि उसने प्राप्त को अप्राप्त समझ कर उसको प्राप्त करने की चेष्टा की है।

प्रश्न—ब्रह्म तो सर्वत्र है इसलिए हमको सब पदार्थ प्रिय क्यों नहीं होते? क्योंकि जब उनमें अस्तिमात्रता उसकी है तो सब पदार्थों को प्रिय होना चाहिए। अप्रिय अवस्था का जगत में भान यह बतलाता है कि वह ब्रह्म प्रियरूप नहीं है।

उत्तर—यह बात आप ब्रह्म के भान के बाद पूछ रहे हैं या पहले? अगर बाद में पूछ रहे हैं तो फिर अनेकता रही ही कहाँ? वह अनेकता तो उस एकता की हुई। स्वतन्त्र तो कुछ है नहीं, इसलिए प्रिय रूपता तो स्वाभाविक हो गई, क्योंकि अपने से आप कौन प्रेम नहीं करता। अगर ब्रह्म के अज्ञान में पूछ रहे हैं तो प्रश्न ही गलत है, क्योंकि जिसमें प्रियरूपता का भान होता है उसी से बेखबरी है; जब तक असल कायम नहीं हुआ सूद किस पर लग सकता है?

प्रश्न—हम तो बगैर ब्रह्म को अनुभव किये ही संसार में प्रिय रूपता को देखते हैं। हमको कई चीजें प्यारी होती हैं। अगर यह सिद्धान्त ठीक हो कि प्रिय अवस्था का सम्बन्ध केवल ब्रह्म से है तो फिर ब्रह्म को अनुभव किये बगैर हमको प्रिय रूपता का संसार में पता ही नहीं चलना चाहिए। चूँकि बगैर ब्रह्म के अनुभव के हमको संसार में प्रिय रूपता का भान होता है इसलिए प्रिय रूपता का ब्रह्म से नित्य सम्बन्ध है यह गलत

है। अगर ब्रह्म से प्रिय रूपता का नित्य सम्बन्ध होता तो किसी और पदार्थ मे प्रिय रूपता का अनुभव न होता।

उत्तर—यह ग़लत है। जो प्रिय रूपता अज्ञानी को जगत में प्रतीत होती है वह भी उसी ब्रह्म की है; क्योंकि एक ही स्रोत से सब कुछ आता है दूसरे से नहीं। इस बात का दारोमदार हमारे जानने और न जानने पर कतई नही। ख़ैर, अगर आप इसके लिए युक्ति चाहते हैं तो भी आप को यह मालूम हो सकता है कि प्रियरूपता का भान जो आप को संसार में मिलता है वह केवल ब्रह्म ही का है दूसरे का नहीं। कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अच्छा, अब ज़रा यह देखिए कि प्रियरूपता किसको कहते हैं ? प्रिय रूपता उस पदार्थ का नाम है, जो अपनी तबियत के मुआफिक हो या अनुकूल पदार्थ को प्रिय कहा जाता है। अनुकूलता क्या वस्तु है ? अपनी इच्छा के साथ किसी पदार्थ का एक हो जाना। अपनी इच्छा क्या वस्तु है ? अपना चाहना। 'अपना चाहना' 'अपने' से निकलता है; गोया वाह्य अनुकूलता आप की इच्छा से किसी का एक होना है। इसलिए कहना पड़ेगा कि वाह्य प्रियरूपता कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, बल्कि जिस वस्तु को आप चाह लेते हैं वह प्रिय हो जाती है। वेदान्त के सिद्धान्त के मुताबिक आत्मा और ब्रह्म दो पदार्थ नहीं, केवल उपाधिकृत भेद है। जब आपकी आत्मा ने किसी को पसन्द किया, वह प्रिय हो गया। इसीलिए तो जिस प्रियरूपता को आप स्वतन्त्र मान रहे हैं वह ग़लत है जिसका सबूत यह भी है कि जब किसी पदार्थ, प्रिय पदार्थ

को दूसरे रोज़ अपनी इच्छा के अभाव या प्रतिकूलता से छोड़ देते हैं तो वही पदार्थ जो कि कल प्रिय था, आज अप्रिय हो जाता है। इससे भी सिद्ध होता है कि पदार्थों में कोई स्वतन्त्रता अपनी नहीं, यह प्रियरूपता आपकी आत्मा या ब्रह्म की है?

प्रश्न—ब्रह्म तो सारे हैं, फिर सब पदार्थ प्यारे क्यों नहीं मालूम होते?

उत्तर—जिनको ब्रह्म सारे ही नज़र आ जाता है उनको सब प्रिय हो जाते हैं, लेकिन दूसरों को जहाँ तक नज़र आता है वहाँ तक वह पदार्थ प्रिय हो जाता है। कोई आत्मा को अपने में ही देखता है, कोई अपने बाल-बच्चों में, कोई सम्बन्धियों में, कोई जाति मे, कोई देश में, कोई संसार में और कोई कुल अस्तिमात्रता में। जिसकी दृष्टि ब्रह्म को जहाँ तक अनुभव करती है उसको ब्रह्म वहीं तक प्रियरूप होता है। मनुष्य-जीवन का भाव यह है कि वह ब्रह्म को कुल अस्तिमात्र में देखे, जिस तरह कि गीता मे भगवान ने फ़रमाया है—

यो माम् पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

अर्थात्—जो मुझको सब में और सब को मुझ में देखता है मै उससे कभी जुदा नहीं रहता। इसका भावार्थ यह है कि दो पदार्थ नहीं हैं, बल्कि कहने के लिए यह फ़रमाया गया है कि 'जो

मुझको सब मे और सब को मुझमें देखता है'—अगर ऐसा वास्तविक होता तो दो स्वतन्त्र हस्तियाँ कायम हो जातीं। नहीं, इसका भावार्थ यह होता है कि जो तमाम नामरूप जगत को मुझ में देखता है और मुझको तमाम नामरूप जगत में, मैं उससे जुदा तो रह ही नहीं सकता। मिसाल के तौर पर, जो बुलबुले के नामरूप में जल को देखता है और जल में बुलबुले के नामरूप को वह दोनों में एक ही तत्व को देखता है।

प्रश्न—तो नामरूप तो एक स्वतन्त्र पदार्थ हो गया ?

उत्तर—नहीं। बुलबुले का नामरूप जल से भिन्न कुछ भी नहीं है, केवल जल ही जल है। जो पदार्थ जिसके होने से हो और जिसके न होने से न रहे वह उसी का स्वरूप हुआ करता है। चूँकि जल का नामरूप बुद्‌बुद् जल के होने से होता है और उसके न होने से नहीं रहता इसीलिए तो स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, और हाँ, स्वतन्त्र इसलिए है भी कि वह जल से जुदा कुछ भी नहीं—जल ही जल है। इसी तरह माया, नामरूप जगत का भान ब्रह्म में होता है। अगर ब्रह्म अधिष्ठान सत्ता न हो तो नामरूप जगत का पता ही न चल सकता। इसलिए नामरूप जगत, माया का अस्तित्व ब्रह्म से भिन्न कुछ है नहीं। जिस तरह जल बिखर कर कह दे कि मैं बूँद हूँ या फूल कर कह दे कि मैं बुलबुला हूँ और मैं अपने में आप रहता हूँ तो ग़लत नहीं हो सकता; उसी तरह ब्रह्म अपने उपाधिकृत जगत में बस कर उसमे ख़ुद ही रहता है।

प्रश्न—यह माया तो ब्रह्म से भिन्न ही होगी ?

उत्तर—भिन्न हो तो यह रह ही नहीं सकती। 'जो पदार्थ ब्रह्म से भिन्न होगा वह रह ही नहीं सकता' जब यह सिद्धान्त है तो फिर माया का अस्तित्व ब्रह्म से भिन्न होकर कैसे रह सकता है !

प्रश्न—अगर माया भिन्न नहीं तो फिर यह माया ही क्यों कहलाती है ? ब्रह्म ही क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर—अगर आप इसको ब्रह्म ही कह दें तो मेरे ख्याल में तो कुछ हर्ज नहीं। मैं तो समझ सकता हूँ कि यह ठीक है, लेकिन जो लोग इस भाषा को न समझते हों उनके लिए इसे माया कह कर भी ब्रह्म से अलहदा इसको कुछ बनाया नहीं जा सकता। जिस तरह बुलबुले का नामरूप जल से उत्पन्न होकर जल ही में रहता है और ऐन जल ही होता है, उसी तरह माया ब्रह्म ही से उत्पन्न होकर ब्रह्म में रह कर ब्रह्मरूप ही होती है, केवल क्रिया और लीला में नाम भिन्न-भिन्न हो गया है।

प्रश्न—माया ब्रह्म से एक किस तरह है ?

उत्तर—जिस तरह बुलबुले का नामरूप जल से एक है।

प्रश्न—बुलबुले का नामरूप जल से एक कभी नहीं है। कहा जाता है, यह नामरूप बुलबुले का है और यह जल है !

उत्तर—यह तो जल की अपनी लीला है कि उसने ख़ुद आप होकर भी अपने से भिन्न एक पदार्थ अपने को छिपाने और नामरूप को प्रकट करने के लिए पैदा कर लिया है, वरना तमाम नामरूप जल से भिन्न कुछ है ही नहीं। इसका दूसरा प्रमाण यह भी

है कि जब बुलबुले का नामरूप जल से निकला या जल में जाहिर हुआ उससे पहले उस नामरूप का आप जल में भाव मानते हैं या अभाव? अगर आप अभाव मानते हैं तो फिर जल से उसकी उत्पत्ति असम्भव हो जायगी और अगर भाव मानते हैं तो फिर उस नामरूप को जल से भिन्न मान कर या जल से एक मानते हुए? अगर भिन्न मानते हैं तो क्या कभी आप उस नामरूप तत्व को किसी तरह जल से अलहदा कर सकते हैं या नहीं? और फिर आप उस नामरूप का अस्तित्व जल मे अनादि मानते हैं या आदि? अगर आदि कहेंगे तो अभाव से भाव मानना होगा और अनादि मानेंगे तो जल के साथ उस बुलबुले का नामरूप भी अनादि रहेगा; जिसका भावार्थ यह होगा कि बुलबुले का नामरूप जल में जल की तरह अनादि है। अब अगर भिन्न मान कर अनादि मानें तो ग़लत हो जायगा, क्योंकि उसका अस्तित्व केवल जल पर निर्भर है और जल के बग़ैर रह ही नहीं सकता। अगर जल न हो तो नामरूप न रहेगा, इसलिए नामरूप जल के आधार पर है। अब इस नामरूप को बुलबुले में एक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं कह सकते, क्योंकि यह हर समय जल के अधीन है और जल के बग़ैर रह नहीं सकता। इसलिए यह नामरूप जल से भिन्न नहीं, जल ही की अपनी माया है और जल के अधीन है।

इसी तरह तमाम नामरूप जिनकी प्रतीति हो रही है ब्रह्म में अनादि काल से मौजूद हैं लेकिन जब तक इनका बाह्य प्रकाश

नहीं होता यह ब्रह्म से एक बने रहते हैं; बल्कि इनको एक कहने का भी ख़्याल नहीं आता, क्योंकि एक कहने का ख़्याल तो दो के बाद आता है। वहाँ तो केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, फिर उसकी इच्छा, लहर, मौज या संकल्प से नामरूप जगत की उत्पत्ति होती है, जो कि ब्रह्म के अधीन है। इस मौज का नाम माया रखा है। चूँकि नामरूप माया ब्रह्म के बगैर रह नहीं सकती इसलिए ब्रह्म से एक है। अब विकाश-काल में या वाह्य प्रकाश-काल में ब्रह्म किसकी माया में रहता है? अपनी ही माया में। तो कहना पड़ेगा कि जिस तरह जल ख़ुद बुलबुला के रूप में आकर उसमें रहता है उसी तरह ब्रह्म अपनी उपाधि-कृत माया में आकर स्वयं विराजमान होता है। इसलिए वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म ही एक स्वतन्त्र पदार्थ रह जाता है। इसलिए 'जो मुझ को सब में और सबको मुझ में देखता है' का अर्थ यह हुआ— 'जो कि मुझको मेरे ही नामरूप में या जो मुझको मुझ में देखता है मैं उससे जुदा नहीं रहता।'

इसलिए जिसकी दृष्टि ब्रह्म को सब जगह अनुभव करने लगती है उसको सब पदार्थ प्रिय हो जाते हैं, उसको अप्रिय तो कभी कुछ रहता ही नहीं। किसी महात्मा ने क्या ख़ूब लिखा है —

वफा कुनेमो मलामत कशेमो ख़ुश बाशेम।
कि दर तरीक़ते मा काफिरस्त रञ्जीदन॥

अर्थात्—हम जगत से वफा करते हैं, प्रेम करते हैं और नतीजे में गालियाँ सुनते हैं, विरोध देखते हैं। लेकिन हम ख़ुश रहते हैं; क्योंकि हमारे मजहब में रञ्ज करना काफिर हो जाना है। जिसका भावार्थ यह है कि अगर हम किसी वाह्य अप्रिय अवस्था को स्वतन्त्रता की शक्ल देंगे तो उसको ब्रह्म से भिन्न मानना होगा। इसलिए उनके मन की गति तह में तो यही रहती है कि अप्रिय कोई इसलिए नहीं कि सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। लेकिन अपनी क्रियाओं में जहाँ वह उपाधियों में खेल रहे हैं वहाँ प्रिय अवस्था और अप्रिय अवस्था दिखावे के लिए एक एक्टर के पार्ट की तरह बनी रहती है, जिससे खेल खराब न हो, जिस तरह हाथी के दाँत खाने के और और दिखाने के और होते हैं।

प्रश्न—वह प्रिय रूप क्यों है ?

उत्तर—यह प्रश्न ही ठीक नहीं; क्योंकि यह तो इस तरह की बात है कि रोशनी, रोशनी क्यों है और अँधेरा, अँधेरा क्यों है ? वह प्रियरूप इसलिए है कि वह प्रियरूप है। यह उसका स्वाभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण में कोई कारण नहीं होता। और फिर सीमित पदार्थों के स्वाभाविक गुणों का कारण चाहे कोई किसी तरह ढूँढ़ भी ले लेकिन असीमित का कारण ढूँढ़ना कठिन है।

इसलिए वह अस्ति भाति और प्रियरूप है। वह जब अकेला होता है, उसको कोई जान नहीं सकता, क्योंकि दूसरा देखने वाला वहाँ कोई है नहीं, और ख़ुद अपने को देखे कैसे, चूँकि वह

ख़ुद आप है। हाँ, उसे जब अपने को आप देखना होता है तो वह अपने मायाकृत आईनों (दर्पण) में अपना मुँह देखता है।

माया के तीन शीशे हैं—एक तमोगुण का, दूसरा रजोगुण का और तीसरा सतोगुण का। तमोगुण और रजोगुण में तो मुँह ठीक नजर आता नहीं, हाँ, इतना ज़रूर पता चलता है कि कोई मुँह अवश्य है जिसका प्रतिविम्ब इनमें पड़ रहा है; लेकिन तमोगुण मे इस प्रतिविम्ब का भी अक्सर अभाव रहता है इस-लिए उसका पता नही चलता। इस तमोगुण रूपी आईने पर भी धुँधला-सा आभास किसी वस्तु का जरूर मालूम होता है जिससे यह तो अनुमान या प्रत्यक्ष हो ही जाता है कि कोई पदार्थ है ज़रूर, जिसका प्रतिविम्ब पड़ रहा है।

लेकिन सतोगुण रूपी शीशे मे मुँह बड़ा सुन्दर नज़र आता है। इसमे द्रष्टा और दृश्य कहने को दो होते हैं लेकिन वास्तव मे तत्त्व एक ही होता है क्योंकि जब आप अपना मुँह शीशे मे देखते हैं तो आप कोई गैर नहीं होते और जिसको देखते हैं वह भी गैर नहीं होता, सिर्फ आपका अक्स या प्रतिविम्ब ही होता है। इसी तरह जब ब्रह्म अपना मुँह आप देखना चाहता है तो द्रष्टा और दृश्य भी आपही बन जाता है; क्योंकि जो देख रहा है वही देखा जा रहा है, बल्कि जिसमे देख रहा है वह भी आप ही है।

मैंने अभी-अभी ज़िक्र किया था कि नामरूप बुलबुले जल में अनादिकाल से होते है। लेकिन यह कौन कह सकता है कि

जल में बुलबुले का नामरूप जल में बुलबुले की उत्पत्ति से पहले है। लाख ज़ोर लगाने और ख़ुर्दबीन (microscope) वर्तने पर भी जल मे बुलबुले का नामरूप बुलबुले के भाव से पहले नज़र नहीं आ सकता। गोया कहना पड़ता है कि जल में बुलबुले का नामरूप पहले हर्गिज़ न था। लेकिन ऐसा कहने से यह कठिनाई आती है कि फिर अभाव से भाव मानना पड़ेगा। तो क्या जल में बुलबुले का नामरूप है ? अगर है तो द्वैत आ जायगा। यह भी गलत है, क्योंकि एक तो बुलबुले का नामरूप जल में जल ही का अपना नामरूप है और दूसरे, जिस काल में हम द्वैत की कल्पना जल में करते हैं उसी समय हम उसको कभी दिखा ही नहीं सकते कि वह द्वैत है कहाँ और किस तरह है। हाँ, यह ज़रूर कहना पड़ेगा कि जल में बुलबुले का नामरूप अलहदा तो दिखाया नहीं जा सकता, लेकिन जल से बुलबुला निकलता इसलिए है कि जल मे से उस बुलबुले के निकलने का इमकान (possibility) या संभावना है। गोया आश्चर्य यह है कि एक चीज़ है नहीं और फिर बन रही है। या तो इस माया को हम ब्रह्म ही का रूप मान सकते हैं या उस ब्रह्म से तमाम नामरूप जगत की उत्पत्ति को मुमकिन मान सकते हैं। गोया जल में बुलबुले का नामरूप अलहदा न होने पर भी अलहदा बन जाता है। मिट्टी मे अगर घड़ा नहीं, तो निकला कैसे, और अगर है तो फिर उसको बनाने की ज़रूरत ही क्यों पड़ी ? देखिए, एक ही समय मिट्टी में घड़ा भी है, कूज़ा भी

है, खिलौना भी है और लुटिया भी है। यह नामरूप आपस में इकट्ठे इस तरह रहते हैं कि एक दूसरे से उनका विरोध नाम को भी नहीं, गोया मिट्टी मे तमाम मिट्टी के नामरूप जगत की सम्भावना है और तमाम नामरूप जगत एक दूसरे से भिन्न होता हुआ भी उसी मिट्टी में कुल नामरूपों को लेकर एक दूसरे का विरोधी नहीं, बल्कि कुल नामरूप एक हैं। जिस वक़्त कोई शक्ल मिट्टी की बाहर आ गई उस समय वह दूसरी शक्लों से अलहदा हो गई।

फिर माया क्या है? ब्रह्म में संसार की उत्पत्ति की सम्भावना (Possibility) या शक्ति। यह माया एक शक्ल में ब्रह्म से अलहदा भी हो जाती है कि जब यह अपनी नामरूप की सृष्टि को बाह्य रूप में सामने ले आती है और जब ब्रह्म की दृष्टि से इसको देखा जाता है तो फिर या तो यह होती ही नहीं या ब्रह्म से एक होती है और या ब्रह्म में जगत की उत्पत्ति का एक इमकान (सम्भावना, Possibility) कहलाती है। जब तक यह ब्रह्म मे ब्रह्म के साथ है उस समय तक इसमें तमाम नामरूप की अनेकता भी एकता ही के रूप मे प्रकट होती है और जब यह प्रकट रूप मे सामने आती है तो इसका नामरूप अपने ही हर एक नामरूपों से भिन्न हो जाता है और ब्रह्म से भी भिन्न हो जाता है।

इसलिए ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि यह है कि इन तमाम नामरूपों में केवल एक ब्रह्म ही है। और जब उसकी नज़र उस ब्रह्म पर पड़ती है तो उसको वह ब्रह्म अपनी आत्मा, या अपनी आत्मा

उसी ब्रह्म का अंश मालूम होती है (कि जो अंश उपाधिकृत भेद से अंश कहलाता है; लेकिन वास्तव में उससे एक ही होता है।) इसलिए ब्रह्मज्ञानी सब में आत्मा को देख कर प्रियरूपता को अनुभव करता है। इस दृष्टि में महात्मा ब्रह्मज्ञानी के लिए कोई चीज़ प्राप्त, कोई अप्राप्त, कोई गैर और अपनी नहीं रहती।

और ब्रह्म प्रियरूप इसलिए भी है कि वह सुन्दर बहुत है। सुन्दर इसलिए है कि आनन्द-स्वरूप है। आनन्दस्वरूप इसलिए है कि उसमें द्वैत का अभाव है। कोई अनुकूल और कोई प्रतिकूल उसमें नहीं; बल्कि कोई अनुकूल भी उसमें नहीं। इसलिए ऐसे—

अस्ति-भाति-प्रिय-रूप ब्रह्म को नमस्कार है !

ब्रह्म के प्रियरूप होने का बड़ा प्रमाण यही है कि अपने से सबको प्रेम होता है, किसी को भी घृणा नहीं होती।

अब ब्रह्म एक ऐसा तत्व है जो अपना प्रमाण आप है। उसके लिए किसी दूसरे प्रमाण की ज़रूरत नहीं; और फिर जहाँ पदार्थ कोई और न हो वहाँ उसका प्रमाण भी कैसे ढूँढ़ा जावे। हाँ, ब्रह्म तो सबको नित्य प्राप्त है ही और सब के पास है, सब ज्ञानियों और अज्ञानियों को समान प्राप्त है लेकिन भेद इतना है कि एक उस प्राप्त को प्राप्त समझता है, दूसरा उस प्राप्त को अप्राप्त समझ कर उसके लिए दौड़ता फिरता है, और जब पा लेता है तो कहता है, वाह क्या ख़ूब ! जिसको मैं अप्राप्त समझता था वह तो नित्य प्राप्त ही था। प्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा

ही अप्राप्ति थी। लेकिन जब तक नित्य-प्राप्त का ज्ञान न हो, तब तक वह अप्राप्त ही बना रहेगा; अगर्चे वास्तविक रूप में उसको प्राप्त कहा जा सकता है।

जो ब्रह्म को सब जगह देख लेता है उसको सहज समाधि मिल जाती है।

प्रश्न—क्या ज्ञानी की नजर में नामरूप जगत के ऊँच-नीच भाव सब उड़ जाते हैं ?

उत्तर—नहीं। जब वह इस नामरूप जगत को ब्रह्म की दृष्टि से देखता है तो उसको और कुछ नज़र ही नहीं आता, लेकिन जब वह नामरूप जगत को जगत की दृष्टि से देखता है और उसमें प्रवृत्त होता है तो फिर उसको ऊँच-नीच व्यवहार का जितना ख्याल रहता है वह किसी और को रह ही कहाँ सकता है, क्योंकि जितनी उसकी शक्ति होती है, दूसरे की कहाँ हो सकती है। इसलिए ज्ञानी की समाधि तो नामरूप जगत को ब्रह्म में देखना है और क्रिया, नामरूप जगत में ब्रह्म के नियमों के अनुसार काम करना है। यानी जब अँगूठी को स्वर्ण के भाव से देखा तो अँगूठी थी ही नहीं, वहाँ सोना ही सोना था, लेकिन जब अँगूठी को अँगूठी के भाव से देखा तो झट कह दिया कि यह यहाँ से टेढ़ी है, यह सीधी है, यह सुन्दर है, यह ख़राब है, इसको सुनार ने ठीक गढ़ा नहीं, इसको ठीक बनाया नहीं, ले जाओ सुनार के पास और कह दो कि इसे ठीक करके वापस दे, इत्यादि।

इसी तरह जब ब्रह्म के संकल्प द्वारा उत्पन्न हुए जगत मे ज्ञानी अपनी उपाधिकृत आत्मा और अहङ्कार से खेलता है तो फिर उसके लिए प्रिय और अप्रिय जगत ज़रूर बन जाता है। लेकिन वह इस अप्रिय अवस्था में भी प्रियरूपता को अनुभव करता है क्योंकि यह खेल भी उस ब्रह्मज्ञानी की इच्छा के प्रतिकूल साबित नहीं होता है।

जब आप डम्बल (Dumb-bells) खरीदते हैं तो उनको अपने हाथ से आप दबाते हैं। जब आप अपने हाथ से दबाते हैं तो वह आपके हाथ के दबाव की मुखालफत करता है और आपके उस दबाने वाले हाथ को अपने उस ज़ोर से (जो उसमें स्प्रिङ्ग के ज़रिए पैदा हुआ है) पीछे हटाता है, लेकिन फिर आप जोर लगाकर उसके ज़ोर को कम करते हैं और इस तरह आपकी वरज़िश हो जाती है। लेकिन आप उसके इस विरोध से नाखुश नहीं होते बल्कि उसकी मुखालफत को, जो कि आपके ज़ोर से मुखालफत करती है, क़ीमतन खरीद कर लाते हैं; गोया आपको उसकी प्रतिकूलता में अनुकूलता मिलती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आप उसकी प्रतिकूलता नहीं करते या उस शक्ति को कि जो आपके हाथ की शक्ति को पीछे हटाती है दूर नहीं करना चाहते। इस प्रतिकूलता में भी अनुकूलता ही होती है। इसी तरह ज़ाहरी अप्रिय अवस्था ज्ञानी को भी प्रतीत होती है लेकिन वास्तविक नहीं।

अब वेदान्त का कहना है कि ब्रह्म तो अस्ति भाति प्रियरूप है और सबको सहज ही प्राप्त है लेकिन अज्ञानवश मनुष्य उसको देखता हुआ भी नहीं देखता, महसूस करता हुआ भी नहीं करता।

और यह अज्ञान माया का कार्य है। अर्थात् नामरूप का खेल या परदा कुछ इस तरह ब्रह्म पर पडा है कि जो ब्रह्म को बावजूद ज़ाहिर होने के भी ज़ाहिर नहीं होने देता। बुलबुले का नामरूप पानी को छिपा रहा है, अँगूठी का नामरूप स्वर्ण को आच्छादित कर रहा है, माया का नामरूप ब्रह्म को छिपा रहा है। अगर्चे बुलबुले का नामरूप और अँगूठी का नामरूप पानी और स्वर्ण से अलहदा कोई वस्तु नहीं, इसी तरह माया का नामरूप ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं, लेकिन ब्रह्म ने अपनी माया को कुछ इस तरह की शक्ति दे रखी है कि वह बावजूद कुछ न होने के भी ब्रह्म को इस तरह छिपा लेती है कि लाखों साल ढूँढ़ने पर भी ब्रह्म का पता न चले।

अगर आप से अचानक कोई पूछे कि आपके सामने क्या है तो आप कहते हैं कि मोटर गाड़ी, मकान, मनुष्य, पशु-पक्षी वग़ैरह। अगर कोई पूछे कि ऊपर क्या है तो कहा जाता है कि आसमान, सूरज, चाँद, सितारे, बादल और बिजली वग़ैरह और अगर पूछे कि नीचे क्या है तो कहा जाता है कि ज़मीन, मिट्टी, समुद्र, दरिया पहाड़ इत्यादि। आपके अन्दर क्या है? हाड़, मांस, नसें इत्यादि। आपके बाहर क्या है? संसार और उसके पदार्थ—जड़ और चेतन। लेकिन जब कोई ब्रह्मज्ञानी से यह

पूछे कि वास्तविक रूप में आप के चारों तरफ क्या है तो कहना पड़ता है अस्ति-भाति-प्रियरूप ब्रह्म। है तो दोनों ही के लिए एक ही चीज़ और वह है ब्रह्म; और प्रतीति भी ब्रह्म ही की होती है लेकिन अज्ञानी को ब्रह्म में नामरूप माया नज़र आती है। वह उसमें फँस कर अनेकता में फँस जाता है, और ज्ञानी को तमाम अनेकता में केवल एकता ही नज़र आती है, जिसकी वजह से वह इन उलझनों में फँसा हुआ भी फँसता नहीं है।

इसलिए वेदान्त का कहना है कि जब मनुष्य ब्रह्म को भूलता है तो वह माया के नामरूपात्मक जाल में फँस जाता है, जिसकी वजह से उसको अपनी इच्छाओं के कारण अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इसलिए वेदान्त का सिद्धान्त है कि कष्ट और इच्छा केवल ब्रह्म को भूल जाना है और कुछ नहीं।

दरअसल वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार संसार का अस्तित्व केवल ब्रह्म को भूलना है और ब्रह्मदृष्टि का अभाव ही जगत है। गोया जब ब्रह्मदृष्टि क़ायम हो जाती है तो जगत की दृष्टि नहीं रहती जैसे, जल दृष्टि से बुलबुले को देखा जाता है तो उससे बुलबुले का अलहदा अस्तित्व वास्तविक रूप में नहीं रहता।

प्रश्न—क्या ब्रह्मज्ञानी क्रिया-हीन हो जाता है ?

उत्तर—हर्गिज़ नहीं। उससे चुस्त और होशियार दुनिया में दूसरा कौन हो सकता है ? क्योंकि जिसने इतने बड़े संसार में ब्रह्म को पहचान लिया, उससा होशियार दूसरा कौन हो सकेगा ?

हॉ, ब्रह्मज्ञानी एक दृष्टि से तो क्रियाहीन जरूर हो जाता है। जब वह जगत को केवल ब्रह्मदृष्टि से देखता है तो उस समय वह क्रियाओं को करता हुआ भी निष्क्रिय ही रहता है; गोया जहॉ ब्रह्म में वह इतने बडे जगत का अभाव देखता है वहॉ वह अपनी क्रिया का भी अभाव हो देखता है। जिस तरह एक राजा के पास एक महात्मा ने आकर कहा—'महाराजा साहब जगत् मिथ्या।' राजा साहब ने न मालूम क्या सोचा और एक हाथी महात्मा जी के पीछे छोड़ दिया। अब महात्मा जी उस हाथी को देख कर भागे। इस अमल को देखकर राजा साहब हॅसे और हॅसकर कहा—'महाराज, भागते क्यों हो, गजो मिथ्या!' अर्थात् यह हाथी तो मिथ्या है। महात्मा जी ने भागते-भागते जवाब दिया—राजा, अगर गजो मिथ्या तो भजो भी मिथ्या है! क्योंकि जिस तेरी नज़र में यह हाथी मिथ्या है उस नज़र में मेरा दौड़ना कैसे सत्य हो सकता है। अगर मेरा दौड़ना सत् है तो हाथी भी सत् है और अगर एक मिथ्या है तो दूसरा तो अवश्य मिथ्या हो ही जायगा।

भावार्थ— ब्रह्मज्ञानी की जिस नजर में कुल संसार ही मिथ्या है उसकी उस नज़र मे उसकी अपनी तमाम क्रियाएँ भी मिथ्या ही हैं। लेकिन ब्रह्मज्ञानी दो नजरों में खेलता है—एक उसकी अपनी दिली नजर होती है जो सब जगह केवल ब्रह्म ही ब्रह्म देखती है और दूसरी उसकी व्यावहारिक नज़र होती है जिसमें वह संसार मे संसार को सत् मान कर कार्य करता

है। वह अपनी व्यवहार-दृष्टि में कुल कार्य करता है लेकिन किसी अपने कार्य से विचलित नहीं होता; क्योंकि वह जानता है कि संसार का असली मर्म क्या है।

या इस तरह कहिए कि ज्ञानी तीन नजरों मे खेलता है—एक तो केवल ब्रह्म भाव की, दूसरी केवल जगत की और तीसरी ब्रह्म और जगत भाव की। पहली नजर को समाधि कहते हैं, दूसरी नजर को व्यवहार और तीसरी नज़र को ज्ञानी की दृष्टि से जगत में विचरना कहते हैं। इसलिए ब्रह्मज्ञानी अपने ज्ञान की वजह से जगत में अपने व्यवहार को नहीं छोड़ता। लेकिन अज्ञानी जगत में ब्रह्म को कभी भी न देखता हुआ केवल जगत के जाल मे इस मिथ्या जगत को सत् मान कर खेलता है और हमेशा घबराता रहता है। उसके अन्दर तमाम इच्छाओं की भरमार रहती है, इसलिए उन इच्छाओं को रोकने के लिए वेदान्त ने कहा है कि 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।' गोया पहले साधनसम्पन्न होकर ब्रह्म को पाने की इच्छा करो, क्योंकि ब्रह्म को पाने की इच्छा इच्छाओं में शामिल नहीं है इसलिए कि ब्रह्म के पा लेने से कुल इच्छाओं का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

भक्ति-मार्ग की दृष्टि से ईश्वर को भूल कर दुःखों का सामने आना :—

एक आदमी किसी जङ्गल मे जा रहा था। उसके चारों तरफ आग लग गई। बेचारे को बचाव की कोई सूरत नज़र न आती थी। वह इधर-उधर मारा-मारा घूम रहा था। क्या देखता है कि

उस जङ्गल मे एक कुआँ है और उसमें एक दरख्त (वृक्ष) की मजबूत बेल लटक रही है। इसने उसको पकड़ कर नीचे उतरने का इरादा ही नहीं किया बल्कि उतर भी गया। ख्याल यह था कि जब बाहर से आग शान्त हो जायगी तो मैं इसी बेल के सहारे बाहर आ जाऊँगा। लेकिन जब यह ज्यादा थक गया तो इसने चाहा कि कुएँ के नीचे उतर जाऊँ, जब कोई इधर से गुज़रेगा तो मुझको निकाल लेगा। कुआँ नीचे से खुश्क था, लेकिन यह क्या देखता है कि नीचे अजगर मुँह खोले बैठा है। इधर तो इसके हाथ थक रहे हैं और उधर अजगर इस इन्तज़ार मे है कि कब यह गिरे और मैं हड़प कर जाऊँ। इस अवस्था को देख कर उसके अन्दर एक नई शक्ति का सञ्चार हो गया। उसने इरादा कर लिया कि वह उस बेल को कभी न छोड़ेगा। जब एक हाथ थकता, फ़ौरन दूसरे से पकड़ लेता और जब दूसरे मे थकन होती तो पहले को इस्तेमाल करता। इसी तरह कुछ वक्त उसने गुज़ारा, लेकिन बदक़िस्मती से अचानक क्या देखता है कि उस बेल को काले और सफ़ेद रङ्ग के दो चूहे लगातार ज़ोर से काट रहे हैं। बेल आधी से ज्यादा कट चुकी है। अब इसकी घबराहट की हद न थी; क्योंकि बाहर निकले तो आग जलावे, लटका रहे तो चूहे बेल को काट दें और नीचे गिरे तो अजगर हड़प कर जावे! वह अत्यन्त दुखी हो गया और ज़ोर से घबरा कर चिल्लाने लगा। इत्तफ़ाक़िया बेल के क़रीब ही एक शहद की मक्खियों का छत्ता

नज़र पड़ा, जिसमें से एक शहद की बूँद टपक कर इसके मुँह में आ गिरी। अब इसको कुछ ऐसा ज़ायका (स्वाद) आया कि यह बाकी सब बातों को भूल गया कि मैं कहाँ हूँ, मेरी क्या हालत है, मेरी मौत का वक्त नज़दीक आ रहा है वग़ैरह। लेकिन थोड़ी ही देर के बाद शहद की बूँद का आनन्द जाता रहा। मगर उस शहद की बूँद ने अपना असर इस तरह किया कि इसके अन्तःकरण में उस शहद के स्वादिष्ट होने के भाव को पक्का करके फिर उस शहद की बूँदों को हासिल करने की इच्छा पैदा कर दी। अब बेचारा ख़ुद तो है सख़्त मुश्किल में, लेकिन फिर भी इच्छा का त्याग नहीं कर सकता। आख़िरकार एक हाथ से तो उस बेल को पकड़ा और दूसरे से उसने उस शहद की मक्खियों के छत्ते पर हाथ बढ़ाया। नतीजा यह हुआ कि इसके हाथ पर हज़ारों मक्खियाँ लिपट गईं और उन्होंने काट-काट कर इसका हाथ ख़ूब मोटा कर दिया। फल यह हुआ कि पहले तो दो हाथों से बेल को एक दूसरे के बाद पकड़ता था, अब एक ही हाथ रह गया और बेल भी ख़त्म होने को हो गई। परन्तु इसकी लगातार कोशिश यह ही रही कि वह शहद की बूँद इसके मुँह में फिर किसी तरह से पड़ जावे। आख़िरकार हुआ यह कि बेल कट गई और अजगर इसको निगल गया। बेचारा गिरता-गिरता यह ज़रूर कहता गया— 'अफसोस! यह दृश्य कितना भयङ्कर था! मुझे बचाने वाला कोई न निकला! अगर कोई होता तो मैं ज़रूर बच निकलता।'

यह है संसार का चक्कर; जिसके चारों तरफ अशान्ति और दुःख की अग्नि जल रही है। मनुष्य इस अन्धकूप मे उम्र (आयु) की बेल या रस्सी से लटका हुआ है। जिसको रात और दिन के काले और सफेद चूहे हर वक्त काट रहे हैं और इसकी उम्र कम होती जा रही है। रस्सी के टूटने पर मौत का अज़दहा मुँह खोले पड़ा है। बेचारा जिस एहतियात से अपनी उम्र की रस्सी को मजबूती से पकड़ता है, वह भी समय के प्रभाव से निष्फल हो जाती है और इसकी उम्र की बेल या रस्सी कटती ही जाती है, कभी रुक नही सकती। इन तमाम मुश्किलों में एक बडी मुश्किल यह भी है कि इस दुनिया मे जो लज्ज़ात महसूसात या पदार्थों के क्षणिक सुखों का—शहद की मक्खियों का—छत्ता लगा हुआ है, मनुष्य इस अपनी भयभीत अवस्था मे उनको हासिल करने की कोशिश करता है। जब कोई ज़र्रा इन पदार्थों का इसको मिल जाता है तो उस समय यह सब कुछ भूल जाता है कि मैं किस भयङ्कर अवस्था मे हूँ। उस हालत मे न तो इसको अपनी मौत की याद रहती है और न किसी और बात की ही। यह इन क्षणिक सुखों को भोगता हुआ फिर उन्हीं को हासिल करने की कोशिश करता है। जिसका नतीजा यह होता है कि उन्हीं पदार्थों के दूसरे चाहने वाले कि जिन्होंने अपना क़ब्ज़ा मुद्दत से इन पदार्थों पर जमा रखा है वे इसके मुख़ालिफ हो जाते हैं और इसको परिणाम मे अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। फल यह होता है कि कभी कोई सुख का ज़र्रा मिल जाता है और कभी

नहीं । लेकिन इस कशमकश मे इसकी उम्र की रस्सी या बेल कटती जाती है और वह शक्ति भी कमज़ोर होती जाती है जिससे यह उम्र की रस्सी को मज़बूती से पकड़े होता है। आख़िरकार उम्र की रस्सी कट जाती है और मौत का अजदहा इसको निगल जाता है।

क्या इससे अधिक भयङ्कर अवस्था कोई हो सकती है? क्या मनुष्य के लिए यह आश्चर्यजनक बात नही कि वह इन क्षणिक सुख-भोगों को देख कर अपनी उस तमाम हालत को भूल जाता है जो बेतहाशा इसको मिटाने के लिए तुली होती हैं? जब मनुष्य प्रभु को भूल जाता है तो ससार उसके सामने अपनी भयङ्कर शक्ल इस तरह बना लेता है कि जिस तरह ऊपर बयान किया है। लेकिन जिसको इस अन्धकूप में प्रभु की याद का सहारा मिल जाता है और वह प्रभु को जोर से पुकारता है तो भगवान् आकर उसको इस अन्धकूप से निकाल लेते हैं और इसको नित्य सुख दे देते हैं जिससे इसको फिर किसी दूसरे सुख की इच्छा ही नहीं रहती। क्योंकि पदार्थों की इच्छा दो प्रकार से होती है—एक तो भगवान् के सुख को भूलने से और दूसरे इन पदार्थों के क्षणिक सुख के साथ बेहद दु:ख को न अनुभव करने से । इसलिए यह ज़रूरी है कि मनुष्य इस पारमार्थिक इच्छा को पैदा करके पहली तमाम छोटी इच्छाओं का त्याग करे और भगवान् को पाकर इस इच्छा का भी स्वाभाविक त्याग हो ही जायगा!